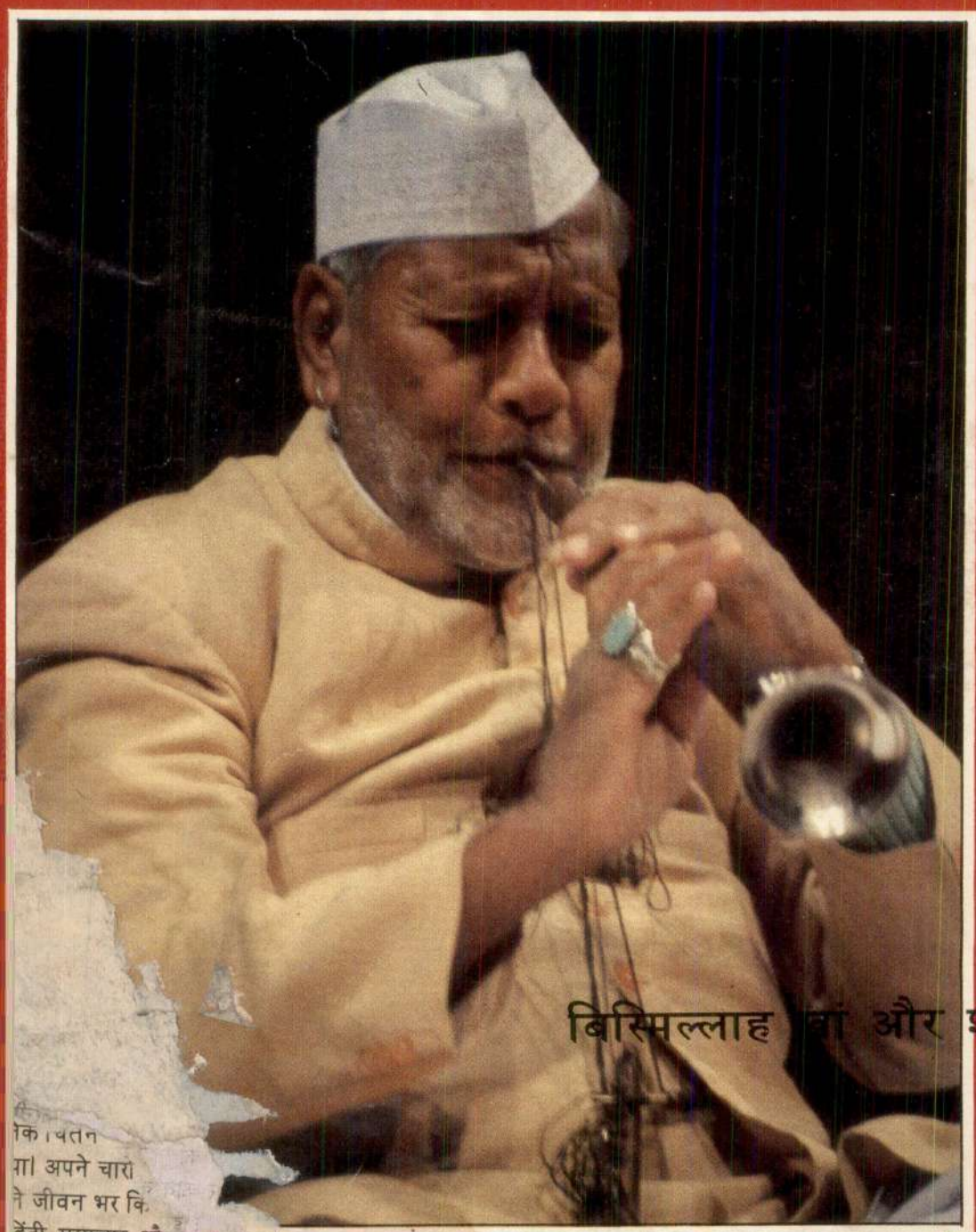
आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

अप्रैल, 1994

तीन रुपये



बिस्मिल्लाह खां और शहनाई

...ल्लेकार्जुन मंसूर का गायन ■ पुतली के रंग-रूप

...कहानियां ■ गिरिजाकमार माथुर का साक्षात्कार

50वीं वर्षगांठ

हिंदी साहित्य के पिछले 50 वर्षों का साक्षी होने का यदि किसी पत्र-पत्रिका को सौभाग्य प्राप्त हो सका है तो हमें यह कहते हुए गर्व है कि वह **आजकल** ही है।

अर्धशती की इस यात्रा में हमारे साथ रही हैं लेखकों की तीन पीढ़ियां। इनमें कुछ नाम हैं :

मैथिलीशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', गुलाबराय, यशपाल, जैनेंद्र कुमार, उदयशंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, डा. रघुवीर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सियाराम शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, चंद्रकुंवर बर्त्वाल, इलाचंद्र जोशी।

हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नरेंद्र देव, वासुदेवशरण अग्रवाल, भदंत आनंद कौशल्यायन, भगवतीचरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, प्रभाकर माचवे, सोहनलाल द्विवेदी, नरेंद्र शर्मा, हरिवंश राय बच्चन, रामकुमार वर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, सेठ गोविंद दास, रामवृक्ष बेनीपुरी।

अमृतलाल नागर, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, भीष्म साहनी, उपेंद्रनाथ 'अश्क', विष्णु प्रभाकर, नामवर सिंह, नेमिचंद्र जैन, गिरिजा कुमार माथुर, कृष्णा सोबती, शेखर जोशी, अमृत राय।

मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, अमरकांत, श्रीकांत वर्मा, मनोहरश्याम जोशी, कमलेश्वर, शैलेश मटियानी, रघुवीर सहाय, नीरज, वीरेंद्र मिश्र, वीरेंद्र जैन, जगदीश गुप्त, इब्राहिम शरीफ, विद्यानिवास मिश्र, मृदुला गर्ग, सूर्यबाला, राजी सेठ, लीलाधर जगूड़ी, मधुकर सिंह, अजित कुमार, असगर वजाहत, प्रयाग शुक्ल, इब्बार रब्बी, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, संजीव, विष्णु नागर, देवीप्रसाद मिश्र, आदि।

इस अवसर पर **आजकल** का आगामी अंक संयुक्तांक (मई-जून) के रूप में प्रकाशित होगा।

पिछले 49 वर्षों में प्रकाशित **आजकल** की चुनिंदा साहित्यिक रचनाएं व लेखों के साथ ही इसमें पिछले 50 वर्ष की हिंदी कविता और कहानी पर विवेचनात्मक सर्वेक्षण शामिल होंगे।

आजकल

ऐतिहासिकता की समकालीनता और समकालीनता का दस्तावेज़

इस संग्रहणीय अंक की प्रति सुरक्षित करवाने के

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110

लगभग दो सौ से अधिक पृष्ठों के इस अंक का — होगा

अवलोकन
हनीय है। परंतु
ा अछूता रहा है वह
हिंसा' मानव जीवन का
द तक प्रभावित होने
हिंसा, प्रदर्शित करती है।
'सर' फिल्म को ही
ज्यादा नहीं है, परंतु
के अंदर व्यापक तनाव
की वजह से) इंसान को
दर परेशान रखते हैं। एक
और है 'अंगार'। यह भी
कितनी प्रभावित है,
लायक। कुछ फिल्में

इस अंक में

साक्षात्कार

7. **"जब आदमी सुर ढूंढ लेता है, उसे अल्लाह-ईश्वर सब दिखने लगते हैं"**
सुप्रसिद्ध शहनाई वादक उस्ताद बिस्मिल्लाह खां से **रामाशेष विश्वनाथ** *की बातचीत*

25. **"कविता आदमी के मन को समझकर उसको विश्वास दिलाती है"**
स्वर्गीय गिरिजाकुमार माथुर से **माजदा असद** *की बातचीत*

लेख

10. **इस्लाम, मध्यकालीन भारत और संगीत**
भारत में इस्लाम और संगीत के संबंधों पर **मुहम्मद उमर**

13. **विरलता का व्यवस्थित विन्यास**
मल्लिकार्जुन मंसूर के गायन पर **गोविंद प्रसाद**

18. **पतन और संघर्ष के छोर**
पच्चीसवें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह की कुछ चुनिंदा विदेशी फिल्मों पर **दीवान सिंह बजेली** *के विचार*

33. **पुतली के रंग-रूप**
पुतुल-कला पर **संजीव आनंद**

36. **जीने का एहसास**
शांति मलिक

39. **महाद्वीपों के आर-पार अश्वेत लेखन**
प्रियदर्शन

42. **दास्ताने हज़ार रात**
महाराज कृष्ण जैन

55. **भारत में 'ब्येलो नोचे'**
एक समीक्षा



विवाह

टिवाणा *की पंजाबी कहानी*

दोस्त

विवेक

अग्रवाल

तिव

संगीत के बीच रघुवीर सहाय

4. **प्रसंग**

आजकल

वर्ष : 49; अंक : 12;
पूर्णांक : 595
अप्रैल, 1994
(चैत्र-वैशाख
शक संवत 1916)

सम्पादक
प्रताप सिंह बिष्ट

उप-सम्पादक
हामिद हुसैन

उत्पादन अधिकारी
के. आर. कृष्णन

व्यापार व्यवस्थापक
जॉन नाग

आवरण : **फाल एस. गिरोटा**

सज्जा : **आशा सक्सेना**

सम्पादकीय पत्रव्यवहार :
सम्पादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 387069

चंदे की दरें
एक प्रति : 3 रुपये;
वार्षिक : 30 रुपये;
द्विवार्षिक : 54 रुपये;
त्रिवार्षिक : 72 रुपये;

चंदे व पत्रिका न मिलने संबंधी पूछताछ के लिए संपर्क करें :
व्यापार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग,
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001

पत्र



सतही लेखन से अलग एक प्रयास

• जनवरी, '94 का अंक फिल्मों पर केंद्रित कर आपने एक सार्थक कार्य किया है। फिल्मों पर सतही लेखन से अलग आपका यह प्रयास गौरतलब है। वाकई इस अंक की गूंज वर्षों तक रहेगी। विष्णु खरे, अनिल साहरी, सुरेश सलिल, विनोद भारद्वाज एवं अरुण प्रकाश के लेख फिल्मों को समझने में हमारी मदद करते हैं। सिनेमा पर आज ऐसे ही दृष्टिसंपन्न लेखों की आवश्यकता है।

इसी अंक में लीलाधर जगूड़ी की कविताएं आज के यथार्थ को बड़े ही साफ शब्दों में बयान करती हैं। कथाकार बटरोही की कहानी *पहचान* कथ्य, शैली और प्रभाव के लिहाज से बेजोड़ है। देवेंद्र चौबे ने भीष्म साहनी का साक्षात्कार लेकर एक बड़ा कार्य किया है। वैसे भीष्म साहनी का साक्षात्कार *अक्षरा* में पढ़ चुका हूं। लेकिन इस साक्षात्कार का एक अलग महत्व है। इस बातचीत में साहनीजी ने काफी खुलकर अपनी बातों को रखा है। साहित्य ही नहीं फिल्म, इलैक्ट्रानिक मीडिया, रंगमंच तथा वामपंथी आंदोलन पर सुंदर सवाल किए गए हैं।

—सुनील राय, नवादा

• मन्नाडे का एकाकी होकर 'पैवेलियन' लौट जाना, भारतीय संगीत जगत का दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय है। डे जैसे कलाकारों को खारिज किया जाना, नई परंपरा नहीं है। लेकिन महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह न तो हताशा की स्थिति है न ही निराश होने की बात। संगीत जब तक कायम रहेगा, सुमधुर स्वर और लय के साथ तालमेल की ही प्रमुखता रहेगी, उसी स्वर और संगीत को स्थायित्व मिलेगा। यह दीगर बात है कि परिवर्तन का चक्र हमेशा चलता ही रहा है। डे साहब अगर इस परिवर्तन को झेल नहीं पाते और 'रहना नहिं देस बिराना है' की तर्ज पर पलायन कर गए तो यह एक हादसा अवश्य है। क्या उन्हें अपना ही गाया गीत याद नहीं—*ओ मेरी जोहराजबीं, तू अभी तक है हसीं*।

—नीरज/संजीव, बेगूसराय

कला फिल्मों के सीमित दर्शक

• इसके जितने भी आलेख हैं, सभी सटीक और सारगर्भित बन पाए हैं। एक साथ इतने रोचक आलेखों का संकलन मिलना मुश्किल है। आज बाजार में फिल्मों से संबंधित जो सामग्री पढ़ने को मिलती है वह इतनी सतही और घटिया होती है कि उसमें मौलिक कुछ होता ही नहीं। निस्संदेह फिल्मों पर आधारित यह अंक देकर आपने नए साल का अनुपम तोहफा दिया है।

भारत की कला फिल्मों की आज मुख्य समस्या इसका सीमित दर्शक वर्ग का होना है। आज यह बहस का मुद्दा है कि आखिर ये फिल्में किन लोगों के लिए बनाई जाती हैं? कुछ विशेष वर्ग के लिए या पुरस्कार जीतने के लिए? कला फिल्मों से जुड़े फिल्मकारों को यह विश्लेषण तो करना ही होगा कि हम इन फिल्मों को किस तरह से आम लोगों के लिए बनाएं। समानांतर फिल्मों में फिल्मकारों की नई पीढ़ी आने से इन फिल्मों को आगे बढ़ाने में सहायता मिल सकती है।

—संजय कुमार प्रसाद, सीवान

• जनवरी अंक शानदार है। फिल्म व फिल्म समारोह पर लिखे गए लेख काफी अच्छे हैं। देवेंद्र चौबे ने भीष्मजी का काफी अच्छा साक्षात्कार लिया है। *हंस* के संपादक की चिंता थोड़ी कम होगी। (संदर्भ संपादकीय दिसं. 93) साहित्य जगत में आए खालीपन को भरने में सफलता प्राप्त की है इस पत्रिका ने।

वर्ष 1993 में प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकों पर भारतजी ने अच्छी टिप्पणी लिखी है। इस अंक में चूंकि फिल्म पर सामग्री है इसलिए अंत फिल्म के एक गीत से—*तुम लाख छुपाओ नाम मगर, दुनिया को पता चल जाता है*।

—अनंत विजय, दिल्ली

• आपने सारगर्भित लेखों के माध्यम से मुख्य पृष्ठ के चित्र को पूर्ण साकार कर दिखाया। विशेषकर *हिंसा की गिरफ्त* (दीवान सिंह बजेली) काफी अच्छा बन पड़ा है। जिन फि
जैसे—घायल, सर, प्रहा
गर्दिश, आदि का
किया गया, स
एक पहलू
यह कि
कुछ
वाला
अब आ
लें—हिंसा
समाज
(हिंसा
किस क
फिल्म अ
हिंसा से
देखने

वास्तव में बेहद सराहनीय हैं, हिंसा के बावजूद।

—सुभाष गर्ग, रोहतक

• पत्रिका का कलेवर अद्‌भुत लगा। पत्रिकाओं की भीड़ में *आजकल* बिल्कुल अलग दिख रही है। भारत के 25वें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह पर सामग्री महत्वपूर्ण थी। काफी कुछ अछूती बातें हाथ लगीं। लेख, कहानियां, कविताएं सभी रुचिपूर्ण थीं। खासकर 'सुर न सजे' के अंतर्गत मन्नाडे के दुर्लभ गीतों को पुनः याद दिलाने के लिए धन्यवाद।

—माला वर्मा, हाजीनगर

• सार्थक सिनेमा और 25वें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह पर केंद्रित यह अंक बेहद महत्वपूर्ण और पठनीय रहा—सचमुच हमारे देश और समाज के परिदृश्य में जो कुछ घट रहा है—'आजकल' उसकी सही बानगी प्रस्तुत करने की कोशिश करता है। सुरेश सलिल का *समानांतर सिनेमा का यथार्थ* विजय अग्रवाल का *साहित्य से रिश्ता* और विनोद भारद्वाज का *अच्छी फिल्मों की खोज* के साथ-साथ अरुण प्रकाश का *सुर न सजे* सिनेमा की दुनिया की सच्चाई उजागर करता है तो भारत भारद्वाज का *महत्वपूर्ण पुस्तकों का वर्ष* अपने समय की कई महत्वपूर्ण किताबों से हमारा परिचय कराता है—हालांकि यह सूची कुछ अधूरी-सी है फिर भी यह तो एक चुनाव है। हां, देवेंद्र चौबे का भीष्म साहनी से साक्षात्कार उनके जीवन और रचना प्रक्रिया की कई परतों को खोलता है।

—रमेश ऋतंभर, नरकटियागंज

पत्रिका सुलभ कराएं

• 25वें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह से संबंधित लेख एवं फिल्मों से संबंधित अन्य रचनाओं में फिल्मों के संबंध में पत्रिका के माध्यम से लोगों के दृष्टिकोण एवं समझ का विवेचन किया गया है। अंतिम पृष्ठ पर साहित्यकार के चित्र छापकर आपने आजकल को संग्रहणीय बना दिया है। आपसे अनुरोध है कि पत्रिका को जनसुलभ कराने की दिशा में और कदम उठाएं।

—आनंद कुमार केडिया, रायगढ़

सरकारी सिनेमा हॉलों के निर्माण का सुझाव अच्छा है

• अच्छी फिल्मों के प्रदर्शन हेतु सरकारी सिनेमा हॉलों के निर्माण का सुझाव अच्छा लगा। *फिल्मों में हिंसा* और *साहित्य से रिश्ता* तथा लोकप्रिय मन्ना डे की चर्चा अच्छी लगी। साहित्यिक गीतकारों पर भी लेखनी चलनी चाहिए थी। कहा भी गया है :

तब साहित्य सिर धुनकर
रोता है
जब कोई कवि
फिल्मी गीतकार होता है
फिल्म दरअसल
वही अमर होती है
जिसकी कथा और गीत में
सुसंगीत और साहित्य भरा
होता है।

—आर्य प्रहलाद गिरि, आसनसोल

• *प्रदर्शन की सुविधा का प्रश्न* लेख बड़ा रोचक लगा। बाल फिल्मों के संदर्भ में हमारी स्थिति खराब या यों कहें कि दयनीय रही है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बाल फिल्में आज समाज के एक विशेष वर्ग तक ही सीमित हैं। सबसे पहले इसके पहुंच क्षेत्र को बढ़ाना होगा। इसके अभाव में बाल फिल्म समारोह अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकता। सभी वर्गों तक पहुंच की कमी ही इन समारोहों को आम जनता से दूर धकेलती है।

—राकेश कुमार सिंह, गढ़ी कुर्मा

आशाओं के विपरीत

• आशा थी कि नववर्ष के अवसर पर कुछ नवीन साहित्य पढ़ने को मिलेगा, पर आशा के विपरीत हुआ। *आजकल* हाथ में लेते ही फिल्मी दुनिया में खो गया। भाग-दौड़ की जिंदगी में साहित्य मिलता ही कहां है?

—अशोक कुमार भास्कर, हजारी बाग

• पूरा अंक फिल्म समारोह को अर्पित कर आपने एक साहसिक और आधुनिक काम किया है। भीष्म साहनी का साक्षात्कार और विनोद भारद्वाज का आलेख जानदार लगा। सरकारी पत्रिका भी इतना अनोखा काम कर सकती है! पूरा अंक जानकारी युक्त है। *पहचान* (बटरोही) कहानी भी बेहद अच्छी लगी। लीलाधर जगूड़ी की कविताएं अच्छी हैं।

—ऋषिकेश कौल, मुंगेर

• *हिंसा की गिरफ्त* में मुख्यधारा की व्यावसायिक फिल्मों में बढ़ती हिंसा मूलतः उनकी बाक्स आफिस में हर हालत में सफल होने की महत्वाकांक्षा का परिणाम है। फिल्मों का साहित्य से सीधा ही नहीं बल्कि गहरा और निकट का रिश्ता है। *महत्वपूर्ण पुस्तकों का वर्ष* ने बहुत प्रभावित किया।

—कुमार भास्कर, पसपुरा, बेगूसराय

काश! फिल्में अच्छे साहित्य से जुड़ पातीं

• विजय अग्रवाल का लेख *साहित्य से रिश्ता* काफी शोधपूर्ण लगा। वस्तुतः सिनेमा अच्छे साहित्य से कटता जा रहा है तथा दोयम दर्जे के साहित्य से जुड़ता जा रहा है। काश! फिल्में अच्छे साहित्य से जुड़ पातीं।

अरुण प्रकाश का लेख *सुर न सजे* वस्तुतः मन को मथकर रख देता है। आज गीतों का स्तर इतना गिर गया है जिसकी आशा नहीं थी। संगीत तथा गीतों के बोल कर्णकटु होते जा रहे हैं। यह संगीत का दुर्भाग्य है कि मन्ना डे सरीखे गायकों को बंबई छोड़ने पर मजबूर होना पड़ रहा है।

—जयप्रकाश मिश्र, शिवहर

कवि और प्रतिबद्धता

दिल्ली में हुए 11वें विश्व पुस्तक मेले का उद्घाटन करने इस बार दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध कवि डेनिस ब्रूटस आए थे। मेले में इस बार अफ्रीका पर विशेष आयोजन था। डेनिस ब्रूटस यद्यपि स्वयं श्वेत हैं किंतु मानवीय समानता के जबर्दस्त समर्थक और नस्लवाद के विरोधी रहे हैं, जिसके कारण उन्हें दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार ने जेलों में बंद रखा और यहां तक कि वह पुलिस की गोली से घायल भी हुए।

ब्रूटस ने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि यद्यपि वह भारत पहले कभी नहीं आए, पर भारत से उनका पुराना संबंध है। जोहान्सबर्ग में पुलिस की गोली से घायल होने के बाद वह उसी जेल में थे जिसमें कभी महात्मा गांधी को बंद किया गया था। भारत से अपने दूसरे संबंध के संदर्भ में उन्होंने बतलाया कि पिछले क्रिसमस



रेखांकन : उदयशंकर

के दौरान जन्मदिन के उपहार के रूप में उनकी बेटी ने उन्हें जो पुस्तक दी वह थी—रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि'। उनकी बेटी ने यह पुस्तक जो पहला संस्करण थी, एक पुराने पुस्तक विक्रेता से बड़ी ढूंढ-ढांढ के बाद खरीदी थी।

ब्रूटस मानते हैं कि साहित्य समाज को बदलने का एक हथियार है। एक साक्षात्कार में जब उनसे पूछा गया कि समाज में कविता की क्या भूमिका है? तो उन्होंने कहा, "बर्नार्ड शॉ ने कहा है 'मैं अक्सर अपने लेखन ही उद्घृत करता रहता हूं। यह मेरे लेखन को चटपटा बनाता है।' मैं भी अपने लेखन की ही शरण लेता हूं। अपने को उद्घृत करते हुए कह सकता हूं, 'एक ऐसे देश में जो यह नहीं मानता कि सभी आदमी और औरत मानव हैं, जहां संविधान उन्हें मनुष्य से नीचे मानकर बाहर रखता है, रचनात्मक कार्य असहमति और विरोध का कार्य है। रचना की क्षमता मानव होने की एक जरूरत है। अपनी रचनात्मकता को स्थापित करना अपनी मानवता को स्थापित करना है। यह सिद्धांत में औरों को प्रेरणा देने के लिए बतलाता रहता हूं।' कविता समाज में परिवर्तन लाने के लिए एक शक्तिशाली हथियार हो सकती है। दुनिया का चित्रण करना या इसे समझना ही काफी नहीं है, हमें एक स्वस्थ बदलाव के लिए ईमानदार प्रयत्न करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका की दृश्यावलियों का चित्रण करना और उसमें वहां की राजनीतिक स्थितियों को न दिखाना सीधे-सीधे बेईमानी होगी।"

प्रतिबद्धता क्या होती है? संभवतः इसका एक और उदाहरण डेनिस ब्रूटस की भारत यात्रा और वापसी में भी नजर आया। नेशनल बुक ट्रस्ट के निदेशक अरविंद कुमार ने कवियों का परिचय देते हुए बतलाया कि ब्रूटस सिर्फ एक दिन के लिए ही भारत आए हैं और अगली रात वापस जा रहे हैं। इस अफरा-तफरी का कारण यह था कि ब्रूटस अमेरिका के एक विश्वविद्यालय में अध्यापन करते हैं, जहां वह सप्ताह में दो कक्षाएं, एक सोमवार और दूसरी शुक्रवार को लेते हैं। ब्रूटस ने आते समय यह शर्त रखी थी कि वह सप्ताह की दो में से एक कक्षा तो छोड़ सकते हैं पर दूसरी कक्षा नहीं छोड़ सकते। इसलिए उनके कार्यक्रम इस तरह बनाए गए कि शुक्रवार तक वह वापस अपने विश्वविद्यालय पहुंच जाएं। क्या हम अपने अधिकांश कवियों व लेखकों से, जो अक्सर कहीं न कहीं विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक हैं, यह आशा कर सकते हैं कि वे अपने अध्यापन कार्य के प्रति भी इस तरह से समर्पित होंगे। दुख की बात यह है कि हमारे लेखक/कवि-अध्यापक अपनी कविता या लेखन के लिए अपने छात्रों का भविष्य बलिदान करने में जरा नहीं हिचकते।

प्रगति मैदान के एक मंच पर उद्घाटन के दिन शाम को ब्रूटस की कुछ कविताओं को सोनल मानसिंह ने अपने नृत्य के माध्यम से प्रदर्शित किया। इनमें एक कविता थी—*मैं पेड़ हूं*।

मैं पेड़ हूं

मैं पेड़ हूं
हवा में चरमराता
रात में बाहर खड़ा
मुड़ा हुआ और अड़ा हुआ :
मैं चादर हूं
मुड़े हुए कनस्तर की
हवा में फड़फड़ाती
तीखे उदास विरोध में:
मैं आवाज हूं
रात में रोती हुई
जो रोती है अंतहीन
और जिसे चुप नहीं कराया
जा सकेगा।

अपनी भाषा में कुछ कहो

पिछले कुछ महीने दिल्ली में समारोहों के अंतहीन सिलसिले

से त्रस्त थे। विश्व पुस्तक मेला, अफ्रीकी साहित्य पर संगोष्ठी, साहित्योत्सव और कला त्रिवार्षिकी आदि।

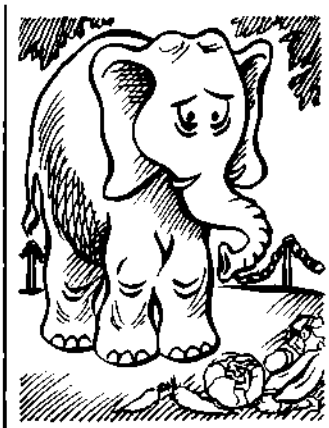
इस बार के साहित्योत्सव का मुख्य विषय *बीसवीं सदी का भारत : विशिष्ट बहस* था। इसमें एक सत्र 'भाषा और राष्ट्र' को लेकर हुआ। जैसा कि लाजमी था कि अंग्रेजी के बाहुल्य और भारतीय भाषाओं के दूसरे दर्जे की स्थिति में आ जाने की चिंता लगभग सभी वक्ता ने व्यक्त की। सत्र के अध्यक्ष भ. कृष्णमूर्ति ने तो एक मजेदार बात की ओर इशारा किया कि इस बार पुरस्कृत होने वाले 20 में से मात्र चार लेखक ही ऐसे हैं जो 40 वर्ष से कम उम्र के हैं। उन्होंने कहा कि संभवतः यह भारतीय भाषाओं में लिखने वालों की वह पीढ़ी है जिसने अपनी भाषा के माध्यम से पढ़ा था। इसके बाद भारतीय भाषाओं में लेखन का क्या स्तर होगा, इसकी कल्पना नहीं की



रेखांकन : उदयशंकर

जा सकती। कृष्णमूर्ति का यह संकेत इसलिए भी ध्यान देने योग्य था कि आगे हर वक्ता ने ही नहीं, बल्कि एक हद तक श्रोताओं ने भी, सारे देश में जिस तरह से अंग्रेजी स्कूलों का विस्तार हो रहा है, उस पर चिंता प्रकट की।

इस अवसर पर बोलते हुए उर्दू के जाने-माने कवि अली सरदार जाफरी ने एक रोचक प्रसंग से अपनी बात शुरू की। उन्होंने कहा कि पश्चिमी बंगाल की गवर्नर और सरोजिनी नायडू की बेटी पद्मजा नायडू ने उन्हें यह किस्सा सुनाया था। पद्मजा जी को किसी ने एक असमिया बिल्ली भेंट की थी। पर कलकत्ता में राज्यपाल निवास में आकर बिल्ली भूख हड़ताल पर बैठ गई। हर तरह के प्रयत्न किए गए पर बिल्ली किसी तरह से दूध पीने को तैयार नहीं हुई। तभी पद्मजा जी को संदेश मिला कि एक ऐसा व्यक्ति उनसे मिलना चाहता है जो असम की बहुत सारी बोलियां और भाषाएं जानता है। पद्मजा जी ने उसे तत्काल बुलवाया। बुलवाने का कारण यह था कि इस आदमी के बारे में सुनते ही उन्हें एक प्रसंग याद आ गया था। एक बार जर्मनी में अपने प्रवास के दौरान वह एक चिड़ियाघर गईं। चिड़ियाघर में लाए गए एक नए भारतीय हाथी ने खाना-पीना छोड़ रखा था और किसी तरह खाने को राजी नहीं हो रहा



रेखांकन : उदयशंकर

था। जब ये लोग उसके आगे पहुंचे और अपनी भाषा में बोलने लगे तो हाथी ने अपने कान हिलाए। चिड़ियाघर का अधिकारी जो वहीं परेशान खड़ा था, उसने फौरन इन लोगों से आग्रह किया कि वह अपनी भाषा में और कुछ बोलें। परिचित भाषा सुनकर हाथी अचानक सजग हो गया और धीरे-धीरे उसने चारा खाना शुरू कर दिया। पद्मजा जी ने भी उस असमिया व्यक्ति से कहा कि वह बिल्ली से असम की भाषाओं में बोले। अचानक एक बोली सुनकर बिल्ली के कान हिले। पद्मजा जी ने उस आदमी से उसी बोली में बोलते चले जाने का आग्रह किया जिसको सुनकर बिल्ली हिली-डुली थी। थोड़ी ही देर में बिल्ली ने 'म्याऊं' की और चपड़-चपड़ दूध पीने लगी। सरदार जाफरी के इस किस्से से यह स्पष्ट हो गया कि अपनी भाषा, आदमी तो रहा दूर, जानवर तक नहीं भूल सकता।

यहां यह बताना अनुचित न होगा कि जैसा आमतौर पर होता है, इस संगोष्ठी में भी अंग्रेजी का ही बोलबाला था। यहां तक कि विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा और भीष्म साहनी तक ने जिन विभिन्न सत्रों में भाग लिया, अपने पर्चे या बात अंग्रेजी में ही की। हिंदी की ओर से एकमात्र वक्ता कन्नड़ भाषी और जाने-माने नाट्यकर्मी ब.व. कारंत थे। हां, अली सरदार जाफरी उर्दू में ही बोले।

अपनी भाषा के लिए

इधर *लंदन टाइम्स* ने फ्रांस में, अंग्रेजी भाषा के विश्वव्यापी वर्चस्व के खिलाफ और अपनी भाषा के सम्मान को बनाए रखने के लिए जबर्दस्त मुहिम चलाने का एक समाचार प्रकाशित किया है। फरवरी के अंतिम सप्ताह में फ्रांस की संसद में एक बिल पेश किया गया जिसके अंतर्गत फ्रांस में अंग्रेजी बोलने और उसका इस्तेमाल करने वालों को दंडित करने का प्रावधान है। इस अधिनियम के कानून बन जाने पर 'भाषा पुलिस' उन संस्थाओं, स्कूलों, ब्राडकास्टिंग कंपनियों, विज्ञापन एजेंसियों पर जुर्माना लगाएगी या उनका अनुदान बंद करके दंडित करेगी जो अंग्रेजी भाषा का इस्तेमाल

करेगा। ऐसे शब्दों का इस्तेमाल करने वालों को भी दंडित किया जाएगा जिन शब्दों के पर्यायवाची फ्रांसिसी भाषा में मौजूद हैं। कोई भी राजकीय संस्था किसी अंग्रेजी नाम अथवा ट्रेड-मार्क का इस्तेमाल नहीं कर पाएगी। फ्रांस में हुई सारी संसदीय बहसें, अकादमिक चर्चाएं और वैज्ञानिक लेखन और संवाद सिर्फ फ्रांसिसी में ही हो सकेगा। इस विधेयक को पेश करते हुए फ्रांस के सांस्कृतिक मंत्री जेक्विस तोबोन ने कहा कि सरकार ने 'फ्रांसिसी भाषा के मसले को एक राष्ट्रीय मुद्दा बनाने का फैसला किया है।'

उसी माह फ्रांस के खेल मंत्री माइकेल एलिओट-मारिया ने नार्वे में हो रहे शीतकालीन ओलंपिक खेलों का लगभग बहिष्कार करने का फैसला कर लिया था। कारण था कि इसका उद्घाटन समारोह सिर्फ नार्वेजियन और अंग्रेजी भाषा में होने जा रहा था।

लेखन की शक्ति

पिछले दिनों एक नई गुजराती मासिक पत्रिका *मंथन* नाम से शुरू हुई थी। अभी इसका चौथा अंक निकलने ही वाला था कि उसके संपादक का 31 जनवरी, 94 को देहांत हो गया। नाम था—मिलिंद देसाई। उम्र 12 वर्ष। मिलिंद रक्त कैंसर से पीड़ित था और यह बात एक



मिलिंद देसाई

दिन उसने डाक्टरों की आपसी बातचीत के दौरान सुन ली थी कि उसका जीवन बहुत सीमित है। शुरू में जरूर मिलिंद को झटका लगा था पर जल्दी ही वह संभल गया। मिलिंद को साहित्य से प्रेम था और अपने जीवन के शेष समय का वह सार्थक उपयोग करना चाहता था। उसके पिता ने जो स्वयं पत्रकार हैं, उसकी इच्छा के अनुसार उसके लिए पत्रिका शुरू कर दी। पत्रिका संपादित करने के पीछे मिलिंद की यह मान्यता थी—'पत्रिका के साथ एक परंपरा चलती है परंतु उपन्यासों में यह संभव नहीं है।' उसने कई कविताएं और एक उपन्यास भी लिखा था। मिलिंद बंबई के जी.बी. खोट गुजराती हाई स्कूल में सातवीं कक्षा का छात्र था और बहुत कम उम्र में लेखन करने लगा था। अजीब संयोग है कि उसकी अंतिम कविता का नाम *चिता* था।

इस जनवरी माह में अनत रमेश का एक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ है। नाम है *अगले साल दिसंबर में* (किताबघर, दिल्ली)। पिछले वर्ष 24 जनवरी को रमेशजी का देहांत हो गया था। वह 45 वर्ष के थे। अनत रमेश को मस्तिष्क का ट्यूमर था, जो एक तरह का कैंसर ही होता है, और 10 वर्ष वह इस बीमारी से लड़ते रहे थे। उनकी अंतिम कहानी *आजकल* में दिसंबर, 92 में प्रकाशित हुई थी। यद्यपि रमेश अपने अंतिम दिनों में इस स्थिति में नहीं थे कि ठीक से बातचीत भी कर सकें इस पर भी जब कभी कोई सहयोगी रचनाकार उन्हें मिलता, वह साहित्य की ही चर्चा किया करते थे।

'लेखन ने मुझे जीने की प्रेरणा दी'—ये शब्द चीनी



अनत रमेश

लेखिका झांग निय्यर ने हाल ही में अपने साक्षात्कार में कहे हैं। यह बात जितनी स्वयं उन पर लागू होती है उतनी ऊपर के इन दो लेखकों पर भी। झांग स्वयं कैंसर से पीड़ित थीं और 13 वर्ष इस बीमारी से संघर्ष करने के बाद सन् 1989 में डाक्टरों ने उनसे स्पष्ट कह दिया था कि वह अब एक माह से अधिक नहीं जी पाएंगी। उन्होंने असहाय होकर मरने से बेहतर यह समझा कि इस समय का वह उपयोग करें और लेखन में लग गईं। अपने काम में वह भूल गईं कि समय कैसे निकल रहा है। धीरे-धीरे इतना ही नहीं कि उन्होंने अपनी आसन्न मृत्यु पर तात्कालिक विजय पाई बल्कि वह इतनी स्वस्थ हो गईं कि अब कोई दवाई भी नहीं लेतीं। वह आजकल चेयरमैन माओ पर लिखी अपनी पुस्तक के कारण चर्चा में हैं। यह पुस्तक इस वर्ष जनवरी में प्रकाशित हुई है। बीमारी के संबंध में अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है: '1989 से 1991 के बीच के वर्ष मेरे लिए भयानकतम थे, जिनमें मैं मृत्यु को साक्षात देखती थी। उसका चेहरा बिल्कुल सफेद होता था और उसका टोप और काले कपड़े मेरे सामने हवा में लहराते रहते थे। मैं कैसे बची? भाग्य या ईश्वर को मुझसे प्यार था और वह चाहता था कि मैं रहूं या शायद ऐसी ही कोई बात है। रचनात्मकता ने मुझे जीने की शक्ति दी।' ❑

"जब आदमी स्वर ढूंढ लेता है, उसे अल्लाह-ईश्वर सब दिखने लगते हैं"

उस्ताद बिस्मिल्लाह खां से **रामाशेष विश्वनाथ** *की बातचीत*

शाम ढल चुकी थी। रात अपने यौवन की दहलीज पर थी। हमारी गाड़ी पुरानी दिल्ली के भीड़ भरे इलाके हौजकाजी से होती हुई फतेहपुरी मस्जिद की ओर बढ़ रही थी। गाड़ी से निकल, मस्जिद की ओर बढ़ते हुए दूर से ही एक स्वर भी सुनाई देने लगा था। राग श्यामकल्याण से मिलती-जुलती स्वर लहरी। अचानक मुझे कभी सुनी वह घटना याद हो आई जो इराक की एक मस्जिद में घटी थी। शहनाई वादक उस्ताद बिस्मिल्लाह खां, मस्जिद के अंदर एक संगीत सभा में, बजाने के लिए आमंत्रित थे। कार्यक्रम बस शुरू ही होने वाला था। सभा खचाखच भरी हुई थी। तभी एक मौलवी साहब मंच पर आए और भाषण देते हुए बोले, "इस्लाम संगीत को हराम मानता है।" उन्होंने बिस्मिल्लाह खां साहब को चेतावनी दी कि संगीत का गाने या बजाने वाला धर्म विरोधी होता है। उन्होंने खां साहब से अपील की कि वह बजाने से इंकार कर दें।

मौलवी साहब जब अपना भाषण खत्म कर चुके तो खां साहब ने चारों ओर देखा। उनकी आंखों में हमेशा जैसी मोहब्बत का जादू था। उन्होंने शहनाई उठाई और लगाया– 'सा...'। शहनाई की फूंक में सुर की एक ऐसी बेमिसाल पुकार थी कि सुनने वाले के दिल की गहराई को छूकर भावविभोर कर दे।

जब इराक की उस मस्जिद में खां साहब ने अपनी शहनाई की तमाम बारीकियों से स्वरों का गुंजन पैदा किया तो लोगों ने उन्हें रुकने नहीं दिया। किसी तरह कार्यक्रम समाप्त हुआ। खां साहब ने मौलवीजी से पूछा, "यह जो मैंने अभी किया, क्या यह गुनाह था? क्या यह हराम है?" काफी देर हुई कोई जवाब नहीं आया। एक ऐसी खामोशी छा गई थी कि मस्जिद की चारदीवारों के बीच स्वरों की अंतर्ध्वनि सुनाई देने लगी। एक ऐसी खामोशी, जिससे शायद सच भी घबराए। मौलवी साहब चुप थे। बिस्मिल्लाह खां साहब ने आगे कहा, "अगर सुर के इस संगम से इंसान और खुदा के बीच मोहब्बत का सिलसिला जारी रहता है तो संगीत को हराम कैसे कहा जा सकता है? और अगर इस संगीत को गुनाह माना जाता है तो मैं और गुनाह करूंगा।"

हम इराक नहीं फतेहपुरी मस्जिद में थे। राग श्यामकल्याण अब तेज गति से ध्रुव की ओर बढ़ने लगा था और हम खां साहब के निवास स्थान में प्रवेश कर चुके थे।

खां साहब शाम ही को राजीव गांधी फाउंडेशन की ओर से सिरीफोर्ट में आयोजित एक कार्यक्रम में भाग लेकर लौटे थे। उन्होंने मुझे रात 10 बजे का समय दिया था। साथ में कुछ मित्र भी थे। खां साहब गाव तकिए का सहारा लिए पलंग पर दोनों पैर सामने को फैलाए बैठे थे। रजाई को कमर तक ओढ़े हुए अपने मुस्कुराते होठों के बीच सिगरेट का एक धीमा कश लेते हुए उन्होंने कहा, "आइए, यहां बैठिए!" दुआ सलाम हुई। हमारे साथियों का परिचय हुआ। बातचीत चल पड़ी। वह शाम के कार्यक्रम के बारे में प्रसन्नतापूर्वक बताने लगे और बताते ही चले गए। आधा घंटा गुजर गया। हमने दबे स्वर में कहा, "खां साहब, इंटरव्यू...!" वह बोले, "अरे, आप अभी शुरू हो जाइए, मैं तो तैयार बैठा हूं।" मैं भी तैयार था:

प्रश्न : खां साहब, सुर के साथ आपने रिश्ता कब, कहां और कैसे जोड़ा?

उत्तर : हमारा रिश्ता सुर के साथ कई पीढ़ियों से जुड़ा हुआ है और शहनाई के साथ भी इतना ही लंबा दौर है। हमारे परदादा हुसैनबख्श, दादा रसूलबख्श तथा पिता पैगंबरबख्श बिहार के



शहनाई

शहनाई का मूल अरब है। मिस्र की तीन हजार वर्ष पुरानी एक मीनार पर 'नाई' नाम के एक सुषिर वाद्य की आकृति अंकित है। उन दिनों 'नाई' ऐसा वाद्य था जिसको कंपिका यानि रीड के जरिये, जिसमें सूराख बने होते थे, बजाया जाता था। कहा जाता है कि जब एक निपुण वादक ने इस नाई को फारस के शाह आलम के सामने बजाया, वह इतने खुश हुए कि इसे नाईइशा के नाम के पुकारने लगे। बाद में इसका नाम शहनाई या बादशाहों की नाई के नाम से प्रचलित हुआ। भारतवर्ष में शहनाई का प्रवेश मुस्लिम शासन काल में हुआ था। 'आईने अकबरी' में उस्ताद शाह मोहम्मद को एक मशहूर शहनाई वादक का स्थान दिया गया है। इतिहास बताता है कि बादशाह अकबर के नौबतखाने में नौ शहनाइयां बजती थीं।

शहनाई में सामान्यतः आठ से नौ तक सूराख होते हैं जिसमें ऊपर के सात सूराख बजाने के काम आते हैं बाकी सूराख या तो मोम से भर दिए जाते हैं या खुले छोड़ दिए जाते हैं ताकि इससे सुर निर्धारित किया जा सके। यह एक तरह की काली लकड़ी से बनी होती है जिसके निचले हिस्से में पीतल की एक छोटी घंटी लगाई जाती है। इस साज की लंबाई एक से डेढ़ फुट की होती है और इसकी कंपिका पालाघास नामक एक घास से बनाई जाती है जो उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पाई जाती है। शहनाई के साथ पुराने दिनों में नक्कारा या धुक्कड़ नामक साज संगति के लिए बजाया जाता था। यह ताल रखने के लिए इस्तेमाल होता था। कई-कई स्थानों पर इन्हें छोटे लकड़ी के डंडे से बजाया जाता था और दरबारी बैठकों में इन्हें हाथ से भी बजाया जाता है। शहनाई पर्वों में, त्यौहारों में और जुलूसों में खूब बजाया जाता है। इसका प्रवेश संगीत सभाओं में आज से 40-50 साल पहले ही हुआ है। इसका प्रचार हर अच्छे काम से और शादियों से भी हुआ है। इन सबके कारण शहनाई को मंगल वाद्य माना जाता है। वैसे यह भी कहना जरूरी है कि बनारस में मोहर्रम के समय जुलूस में उस्ताद बिस्मिल्लाह खां मातमी धुन बजाते हुए इमामबाड़ा से करबला तक चलते हैं। ❑

भोजपुर जिले के डुमराव नवाब के दरबार में संगीत सेवा करते आए हैं और उनका मुख्य काम नवाब के मंदिर में आरती के वक्त शहनाई बजाना था। मैं तब तीन-चार साल का बच्चा था। उन दिनों मैं भी डुमराव के बिहारीजी के मंदिर में खूब भागदौड़ किया करता था। मैं वहां बिहारीजी को चढ़ाया गया प्रसाद, खासकर लड्डू, खाने के लोभ में जाता था। पुजारीजी हमें रोज सवा सेर का लड्डू दिया करते थे और मैं उसे सभी घरवालों को बांटकर खुद भी खाता था। लेकिन उन दिनों मैंने शहनाई बजाना शुरू नहीं किया था। हालांकि घर में हमेशा शहनाई बजती थी, फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से इसके प्रति आकृष्ट नहीं हुआ था। मुझे तो शहनाई की तरफ खींच तब पैदा हुई जब बनारस आया और अपने मामू अलीबख्श खां साहब को सुनने लगा।

लेकिन खां साहब, यह कितनी अजीब बात है कि आप अपने घर में अपने पिता आदि की शहनाई से प्रभावित नहीं हुए?

हां, बिल्कुल ऐसा ही हुआ। मुझे खुद नहीं पता, जब डुमराव में घर में शहनाई बजती थी तब मैं उसके प्रति क्यों आकर्षित नहीं हुआ। बचपन में ही बनारस आ गया था। बड़ा चंचल था। यहां-वहां खेलता रहता था। खेलते-खेलते भी जब मामू की शहनाई की आवाज सुनाई देती थी तो मेरे मन में तुरंत उसके प्रति एक अजीब-सा मोह पैदा होता था। मैंने खेलते-खेलते ही मामू के रियाज को सुनने की आदत बना डाली। इस पर हमारे मामू ने गौर किया और एक दिन एक छोटी शहनाई पकड़ाते हुए बोले, "अब इसे बजाओ। इस तरह से सा रे गा मा पा धा नि सा...सा नि धा पा मा गा रे सा, बजाओ। बहुत मजा आएगा और पैसा मिलेगा।"

तब मैं शहनाई को एक खिलौना समझता था। खूब टें-टें करता था, लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता मन लगने लगा और मामू ने खुश होकर सबक देना शुरू किया।

किस तरह के सबक से शुरू किया गया?

पहले सुर लगाने का सबक शुरू कराया गया। मामू कहते थे, "कोई भी तीन सुर ले लो, उसके ऊपर-नीचे जाना मना है। जैसे—निषाद, षड्ज और ऋषभ, बस उन्हीं तीनों सुरों में टिके रहो, उन्हें सजाओ, संवारो और एक सुंदर गुलदस्ता रचाओ और जब इन तीन स्वरों से काफी देर खेल लिए तब और आगे बढ़ो। तब कुछ और स्वर ले लो। फिर इस स्वर समुदाय से एक सुंदर आकृति पैदा

करो।" इस तरह मामू ने हमारा कई रागों की रूपरेखा को स्वयं पहचानने में मार्गदर्शन किया।

आपको बंदिशों की तालीम किस तरह से हासिल हुई?

अलीबख्श साहब हमें कई रागों के स्थाई तथा अंतरा सिखाया करते थे। उन्हें सही तरह से याद करने के लिए प्रेरणा देते थे। अगर मैं कभी कुछ बंदिशें भूल भी जाता तो मुझे सतर्क होकर स्थाई अंतरा को याद करने के लिए चेतावनी देते रहते थे, "अगर यहां भूल जाओगे तो प्रोग्राम के मंच पर याद कहां से आएगा।" मैं सतर्क होने लगा। बहुत शीघ्र ही मैंने कई रागों के स्थाई-अंतरा याद कर लिए। जहां औरों को एक बंदिश याद करने में हफ्ते लग जाते थे, मैं 8 घंटे में एक-एक बंदिश याद कर लिया करता था। और तैयारी शुरू हो गई। इस तरह 14 साल की उम्र में मंच पर पहुंचा और अपने बड़े भाई शमशुद्दीन खां साहब के साथ प्रोग्राम देने लगा।

आपने शहनाई जैसे एक लोकसंगीत से जुड़े वाद्य को शास्त्रीय संगीत की कोटि पर पहुंचाया है। यह कैसे संभव हो सका?

यह तो बड़ी लंबी यात्रा है। हमारे बुजुर्ग शुरू में गवैया थे। फिर आगे चलकर वाद्यों पर हाथ डाला। कइयों ने सितार बजाया, कुछ ने सरोद के ऊपर रंग जमाया। खोज करते-करते शहनाई तक पहुंचे। उन दिनों शहनाई सिर्फ लोकसंगीत, नाटक, पर्वों में इस्तेमाल होती थी। इसकी न तकनीकी रूप से कोई तैयारी थी न ही गायकी की बारीकियों को प्रस्तुत करने का कोई उपाय। उसी पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए हमारे बुजुर्गों ने शहनाई पर तकनीकी खूबियों को प्रतिष्ठित किया। पहले आलापचारी लाए। फिर शहनाई में जोड़ का क्रम प्रस्तुत किया। बाद में तान बजाने लगे, झाला की पेश हुई और करते-करते जब हमारे मामू का समय आया तब शहनाई शास्त्रीय संगीत को हर तरह से प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो चुकी थी। बस हम इसको लेकर आगे चले।

[illegible] के समय आपने किस तरह का माहौल पाया? तब और [illegible] का परिवेश देखा आपने?

[illegible] शुरू में खूब मजा लिया। बनारस का प्रसिद्ध मंदिर [illegible] के बाहर हम एक-दो लड़के बैठकर मस्त [illegible] शहनाई पर धुन, चैती इत्यादि बजाने लगते थे। [illegible] भीड़ जमा हो जाती थी। लोग कहते थे, "वाह बेटा [illegible]।" तब हम कहते थे, "अरे पुजारीजी हमका कुछ प्रसाद नहीं [illegible] इतना मेहनत की? पुजारीजी कहते थे, "अरे बेटा, ला प्रसाद [illegible] जा!"

फिर जाकर बैठते थे—मां शीतलाजी के मंदिर के पास, घाट की सीढ़ियों के पास और बजाते थे—'गंगा तेरे द्वारे बजैया बाजे, गंगा तेरे द्वारे...' मंदिर में आते-आते भक्तगण रुक जाते थे और हमारे बाजे की वाह-वाह करते थे। वहां के पुजारीजी भी हमें दोनों में बताशा, [illegible] का प्रसाद देते। अब वह घाट राजेंद्र प्रसाद घाट के नाम से प्रसिद्ध है। उसी घाट पर 1985 में स्वर्गीय प्रधानमंत्री राजीव गांधी और उनकी पत्नी सोनिया गांधी के सामने हमने इस धुन को बजाया—'गंगा तेरे द्वारे बजैया बाजे, गंगा तेरे द्वारे...' और तब राजीवजी की उंगलियां चलने लगी थीं। आज भी स्वर्गीय राजीवजी के नाम से बनी हुई संस्था की ओर से मैं प्रोग्राम देने गया था। वहां सोनियाजी से मुलाकात हुई। कार्यक्रम के बाद उनसे बातचीत करते वक्त मैंने उनसे कहा कि 1985 में मैंने यह धुन बनारस में बजाई थी। वह मुस्कुरा रही थीं और मेरी आंखों में आंसू थे। मुझे राजीवजी का वह मासूम चेहरा याद आ गया था। खैर, एक दिन तो जाना ही है सबको, दुनिया में कुछ भी नहीं टिकता, चाहे वह पैसा हो या बंगला। इसलिए मैं अल्लाह से कहता हूं—हे मालिक, बस सुर की दुनिया में मुझे हमेशा जीने दे, बाकी से हमारा क्या मतलब। अरे, असली मजा तो सुर में है। वह राम और रहीम दोनों का मूल है। सुर का कोई मजहब नहीं। जिस दिन मुझे पता चले कि अयोध्या में कोई पहरा नहीं है, नमाज पढ़ी जा रही है और आरती भी हो रही है तब मैं जाकर वहां अकेला बैठकर बजाऊंगा शहनाई। आखिर यह कोई नई बात नहीं है। हम भी विश्वनाथजी के मंदिर जाते हैं, उनसे मांगते हैं और वह हमें देते भी हैं। क्या विश्वनाथजी हमारे लिए नहीं हैं?

हम तो कहते हैं, जो सुर को ढूंढेगा उसे ईश्वर को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। दोनों एक ही खोज हैं। हमें मालूम है कि ईश्वर है, पूरा यकीन है, लेकिन दिखता नहीं है। उसी तरह सुर है, सुनाई देता है, दिखाई नहीं देता। न ही हम उसे छू सकते हैं। और मजेदार बात तो यह है कि जब सुर ढूंढ लेता है आदमी तो उसे अल्लाह-ईश्वर सब दिखने लगते हैं। जब सुर की खोज में इंसान ईश्वर तक विनम्र भाव से पहुंचता है तब भगवान प्रसन्न होकर कहते हैं, "सुर तो तुम्हें दे दिया। लो, लय भी ले जाओ।" मतलब ईश्वर संगीतकार से इतना प्रेम करता है कि उसे सुर के साथ लय भी दे देता है और लय का मतलब सिर्फ ताल नहीं है, ज्ञान भी है।

बातें चली जा रही थीं। हमारी पलकें एक पल के लिए भी झपकीं नहीं। घड़ी तो हमने देखी भी नहीं थी। तभी किसी ने पूछा, "खां साहब, आप खाना खाएंगे, बाद में नहीं मिलेगा?" सबने तुरंत घड़ी देखी। रात के बारह बजकर दस मिनट हो चुके थे। हमें आगे कुछ भी पूछने में शर्म आने लगी। 77 वर्ष के बिस्मिल्लाह खां साहब ने सारी शाम शहनाई बजाकर कई संगीत प्रेमियों को आनंदित किया था। अभी तक उन्होंने खाना भी नहीं खाया था। हम खामोश बैठे हुए थे। तभी खां साहब ने हमारा हाथ थपथपाया और कहा, "अरे यह भी लय है, अब रात हो रही है। समय कम रह गया है और जब समय की मात्रा अपने निर्धारित स्थान पर पहुंचती है तब इसे संगीत की भाषा में सम कहते हैं। अब इस इंटरव्यू का भी सम आ चुका है।"

हम लोगों ने खां साहब को सलाम किया और अलविदा ली। अब हमारे कानों में श्यामकल्याण नहीं बल्कि उससे भी मीठा राग बिस्मिल्लाह खां साहब की वाणी का झंकृत हो रहा था। ❑

इस्लाम, मध्यकालीन भारत और संगीत

मुहम्मद उमर

इस्लाम में संगीत के निषिद्ध होने पर भी मुस्लिम शासकों ने संगीत को बड़े पैमाने पर अपनाया ही नहीं, आगे भी बढ़ाया।

इस्लाम में साज़ों के साथ संगीत सुनना हराम करार दिया गया है। इस संबंध में उलेमाओं और सूफियों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। इस विवाद के विभिन्न पहलुओं की जानकारी के लिए इमाम बिन तैमिया का रिसाला *इसमा उल रक़्स* मौलाना अबुल फ़रह इब्न जौज़ी की किताब *तलबीस व इब्लीस* मौलाना फखरुद्दीन राज़ी का *रिसाला उसूल उल समा*, इमाम ग़ज़ाली की किताब *कीमिया-ए-सआदत*, शेख अली हजवेरी की *कशफ-उल-महजूब*, मीर खुर्द की *सैरऔलिया*, शेख़ अब्दुल हक़ मुहदिस देहलवी का रिसाला *फ़रह-उल-अस्मा बा इख्तलाफ इकबाल उल मशाइख वा अहवाल हम फीस्समा* का अध्ययन करना चाहिए।

दिल्ली के सुल्तानों में सुल्तान अल्ततमश (1211-36) पहला सुल्तान था जिसे संगीत से दिलचस्पी थी। उसके शासनकाल में संगीत की महफिलें सजती थीं। वह सुल्तान ख्वाजा कुतबुद्दीन बख्तियार काकी की खानकाह में जाकर कव्वाली सुना करता था। लेकिन समकालीन साहित्य में ऐसा कोई हवाला नहीं मिलता जिससे इस बात का अंदाजा मिल सके कि उसने किसी भारतीय संगीतकार को अपने दरबार में संरक्षण दिया था। अलबत्ता उसके बेटे रुकनुद्दीन फिरोजशाह (निधन 1236) को संगीत से बहुत प्रेम था। उसके दरबार में गायकों की कद्र बढ़ गई थी। दूर-दूर के इलाकों से बड़े-बड़े गवैये और आला दर्जे की गायिकी में माहिर नर्तकियां उसके दरबार में जमा होती रहती थीं। यह वह ज़माना था जब भारतीय संगीत के महत्वपूर्ण ग्रंथ *संगीत रत्नाकर* की रचना को ज्यादा समय नहीं बीता था। और अब ऐसा भी न था कि सिर्फ अजमी गवैये हों बल्कि भारतीय गायक और कलाकार भी सामने आ चुके थे। पुरुष ही नहीं, स्त्रियां भी थीं, और बड़ी संख्या में थीं। जो भारत के सिवा बाहर की नहीं हो सकतीं। वे *संगीत रत्नाकर* में निर्दिष्ट नियमों के आधार पर ही गाती होंगी। उनके नृत्य की शैली भारतीय होगी।

'केक़वा' (निधन 1290) को शायरी और संगीत दोनों से दिलचस्पी थी। इसका नतीजा यह हुआ कि गायक और गायिकाएं बड़ी संख्या में जमा होने लगीं। बकौल बर्नी इस हुकूमत में हर गली में गवैये थे और मुहल्ले से कोई न कोई भाट सिर निकालता था। सुल्तान की प्रशंसा में गवैये फ़ारसी-हिंदी मिश्रित गाने गाते थे। कौल, ग़ज़ल, होली और कलानी गाए जाते थे। इतिहासकार 'बर्नी', ने उन नर्तकियों का उल्लेख किया है जिनके नृत्य के वशीभूत होकर पक्षी तक हवा से उतरकर जमीन पर आ जाते थे और दीवारें नृत्य करने लगती थीं।

सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी (1290-1296) के युग में शाही दरबार से जुड़े हुए कलाकारों का बर्नी ने बहुत ही रोचक दृश्य प्रस्तुत किया है। वह लिखता है :

'सुल्तान के दरबार के गाने वालों में से मुहम्मद सना चंगी ढोल बजाता और फ़ुतहा, फ़िक्काही की लड़की और नुसरत खातून गाना गाती थीं। उनके खूबसूरत और दिलकश सुरों को सुनकर चिड़ियां जमीन पर उतर आतीं थीं। सुनने वाले होशो-हवास खो बैठते थे, उनका दिल बेकाबू हो जाता। दुख्तर खासा, नुसरत बीबी और मेहर अफरोज़ा इतनी खूबसूरत और अजीबोगरीब चंचल सुंदरियां थीं कि जिसकी तरफ आंख उठाकर देख लेतीं या अदाएं दिखातीं तो लोग उन पर दिलोजान से फिदा हो जाते थे। वे सुल्तानी महफिल में नृत्य करतीं, जो आदमी उनके नाज-नखरे देख लेता, उसकी यही इच्छा होती कि वह उन पर अपनी

जान निछावर कर दे। सुल्तान की महफिल ऐसी शानदार थी जिसकी झलक किसी ने सपने में भी न देखी होगी।'

अमीर खुसरो ने भी सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी के संगीत प्रेम की चर्चा की है और मुहम्मद शाह के गवैयों की प्रशंसा की है।

सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) के युग के अंतिम दौर में एक प्रकार से देश में शांति स्थापित हो चुकी थी। आम जरूरत की चीजें उपलब्ध रहती थीं। जनता की आर्थिक स्थिति सुधर रही थी। इस संपन्नता के माहौल में लोगों की ललित कलाओं के प्रति रुचि का विकसित होना स्वाभाविक था। इसलिए हम देखते हैं कि इस दौर में ललित कलाओं में नृत्य और गायन कलाओं ने काफी उन्नति की। इस कला के माध्यम से दरबार तक पहुंच भी संभव थी और सम्मान में वृद्धि भी हो सकती थी। यह दौर बड़ी हद तक नृत्य और संगीत का दौर बन गया। इस युग के साजिंदों और गवैयों का ज़िक्र करते हुए बर्नी ने लिखा है :

'अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल के पहले दस वर्षों में गायकों में सबसे ज्यादा मशहूर मौलाना मसूद मुकरी के लड़के मौलाना लतीफ और हमीदुद्दीन थे। अंतिम दस वर्षों में मौलाना लतीफ के लड़के अल्ताफ और मुहम्मद हुए। उपर्युक्त चारों गायकों के मधुर स्वरों के जादू से रूह जिस्म से बाहर निकल आती है। किसी मनचले में उनकी आवाज सुनने की हिम्मत न थी। जिस महफिल में ये गवैये गाना गाते थे, उस महफिल की रौनक सौ गुनी बढ़ जाती थी।'

इसके अलावा बर्नी ने चंग, रबाब, कमांचा, मश्काल और नौबत बजाने वालों का ज़िक्र किया है। इब्ने बतूता के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक (1325) के दरबार का सबसे बड़ा गवैया और उसके संगीत विभाग का दारोगा अमीर शम्सुद्दीन तबरेजी था। दरबार के सभी स्त्री-पुरुष कलाकार उसके निर्देशन में प्रदर्शन करते थे जिनमें से अधिकांश स्त्री-पुरुष कलाकार हुआ करते थे।

यद्यपि फिरोजशाह तुगलक (1351-1388) ने लोगों से शरीयत का पालन कराने की हर संभव कोशिश की। लेकिन वह मदिरापान और गाने के शौक से पीछा न छुड़ा सका। गाना सुनने का उसे इस कद्र शौक था कि जुमे की नमाज के बाद सुल्तान चौबीं महल में प्रवेश करता और उसके समक्ष कलाकार हाजिर हो जाते। 'अफ़ीफ़' ने सुल्तान के अतिशय संगीत प्रेम के परिणामों का ज़िक्र करते हुए लिखा है :

'कि सुल्तान ने इनाम पाने के लोभ में दूर-दूर से गायक कलाकार उसके दरबार में हाजिर होते और धन प्राप्त करते। दिल्ली के गवैयों का यह हाल था कि दिल्ली छोड़कर अपने छोटे-छोटे बच्चों को साथ लेकर फिरोजशाह जाते। यहां तक कि चार-पांच साल के बच्चों को भी साथ लाते क्योंकि सुल्तान छोटे और बड़े सभी कलाकारों को योग्यतानुसार इनाम देता था।'

उसने अज्मी (ईरानी) और भारतीय संगीतकारों में मेल-जोल कायम किया, जबकि इस्लाम में संगीत जायज नहीं है। इस मेल-जोल ने मुसलमानों के भीतर भारतीय संगीत के प्रति रुचि पैदा करने में सकारात्मक भूमिका निभाई। दूसरा कारण यह था कि वे हिंदू जो बाद में मुसलमान हुए थे, उनमें से भी कुछ ऐसे होंगे जिन्हें संगीत में महारत हासिल होगी। इस कारण धीरे-धीरे मुसलमान भारतीय संगीत के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने यहां के शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा प्राप्त की। इस मेल-जोल के रहते हुए मुसलमानों ने न केवल भारतीय संगीत सीखा बल्कि उसे उत्कर्ष के एक खास बिंदु तक पहुंचाया। मुसलमानों में भी ऐसे कलाकार हुए जो हिंदू कलाकारों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सभा में बैठते और अपनी श्रेष्ठ कला का प्रदर्शन करते थे।

इस सौहार्द और मेल-जोल के फलस्वरूप संगीत विधा पर दो पुस्तकें भी लिखी गईं। पहली *गुन्नियतुल मीना*, जिसमें भारतीय गायन शैली का वर्णन है और दूसरी *फरीदुज़्ज़मा* या *फ़ीमारीफत-उल-अलहान*, जिसका फारसी में भी अनुवाद हुआ।

अमीर खुसरो (1253-1325) ने जिस रूप में भारतीय संगीत कला की प्रशंसा की है उससे अनुमान किया जा सकता है कि भारतीय मुसलमानों में शायद वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय संगीत के मर्म को समझा था। मुहम्मद सईद अहमद मारहरवी का कथन है—

'आपकी संगीत की समझ ऐसी थी कि बड़े-बड़े सिद्धहस्त और संगीत विशेषज्ञ व गवैये आपकी शागिर्दी को गर्व की बात समझते थे। नायक गोपाल अपने समय का शीर्षस्थ कलाकार था। वह दक्षिण से केवल आपकी ख्याति सुनकर दिल्ली आया और मुद्दतों आपके सत्संग में रहकर कमाल हासिल किया। इसी प्रकार जस सावंत ने भी आपकी सोहबत उठाई थी, जो कि संगीत कला का मर्मज्ञ था।'

संगीत में उन्होंने कई चीजों की ईजाद की। ध्रुपद की जगह क़ौल और क़लबाना बनाकर बहुत-से राग ईजाद किए और हिंदी व फारसी संगीत के योग से गीत बनाए थे। सितार की ईजाद उनका विशिष्ट योगदान है। उन्होंने बीन में संशोधन करके सितार बनाया था। बीन भारत का प्राचीन वाद्य यंत्र था।

भारतीय संगीत के अमीर खुसरो इस कद्र प्रशंसक थे कि कई जगह उन्होंने अतिशयोक्ति से भी काम लिया है। लिखते हैं कि 'इस मुल्क के गवैयों की मीठी तानों पर लोगों के तो होश उड़ जाते थे।' अमीर खुसरो स्वयं चंग और दफ बजाते थे। चंग का सुर ऊंचा और बरबत का नीचा होता था। जो तंबूर के कद्दू से बनाए गए थे, उन कद्दुओं ने लोगों को मस्त कर दिया था। कई तरह के भारतीय साज बजते थे। कद्दू तो कलाकार की पीठ पर होता था लेकिन श्रोताओं के शरीर की शिराएं रक्त से खाली हो जाती थीं। एक ताल नामक तांबे का बाजा होता था जो सुंदरियों की उंगलियों में रहता था। हिंदी तुबुक भी बजता था। भारतीय सुंदरियों ने अपने होंटों की कला से सुनने वालों को पागल कर दिया था। वे नर्तकियां ताल के लिए हाथों में प्याले लिए हुए होती थीं। वे शराब से नहीं बल्कि अपने गानों

से लोगों को मदमस्त करती थीं। संगीत के मधुर स्वरों पर नृत्यांगनाओं के पांव थिरकते थे।

दस कलाओं में अमीर खुसरो ने भारतीय संगीत को सर्वश्रेष्ठ बताया है। भारतीय संगीत कला के बारे में वह लिखते हैं कि 'वह एक ऐसी आग जलाती थी जिससे मन और प्राण दोनों भस्म हो जाते थे। वह दूसरे देशों की कला से कहीं ऊंची थी। एक परदेसी इस देश में अगर तीस या चालीस बरसों तक भी रहे तो भी वह किसी एक सुर को अच्छी तरह से नहीं गा सकता। भारतीय संगीत न केवल इंसानों को बल्कि जानवरों को भी मंत्रमुग्ध कर सकता था। हिरन को गाने के जरिए वशीभूत करके उसका शिकार किया जाता था।'

हश्तबहिश्त में अमीर खुसरो ने एक सिद्ध संगीतकार का ज़िक्र किया है जो चारों साजों और बारह सुरों के गाने में पूरी महारत रखता था। एक बड़ा नामी दर्शन का अध्येता, हकीम और ज्योतिषी था जो तमाम सुरों की बारीकियों को बखूबी समझता था। यहां तक कि वह संगीत के जरिए लोगों को हंसा, रुला और सुला भी सकता था। वह 'दलाराम' को पढ़ाता था।

अमीर खुसरो ने *जश्न-ए-सुल्तानी* और *मजालिसे निहा नयान कि पखावज़ गहे नवा सरायानी आलवी अंद*[1] में संगीत से दिलचस्पी रखने वालों को इस बात की हिदायत की है कि वे लोग सभा के शिष्टाचार का ध्यान रखें और उन पर आचरण करें। गायकों के नियमों का पालन करें। इनाम देने में उदारता बरतें। कलाकार लोग रबाब, चंग, बरबत और नै आदि बजाकर अपनी आजीविका कमाएं लेकिन अपनी कला को शाही मजलिसों से धन बटोरने का साधन न बनाएं। अमीर खुसरो की रचनाओं और उस दौर के साज़-बाज़ों का अध्ययन करने पर ऐसा महसूस होता है कि सल्तनत काल के आरंभ में ईरानी और अरबी संगीत का रिवाज था। लेकिन इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि उस दौर के मुसलमान और विशेष रूप से बाहर से आए हुए मुसलमान अपने आप को भारतीय संगीत से निष्प्रभावित नहीं रख सके होंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे धीरे-धीरे भारत के शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन एवं नृत्य) में भी रुचि रखने लगे होंगे। यह वह युग था जब शासक और शासित अर्थात मुसलमान और हिंदू एक-दूसरे के अधिक समीप नहीं आए थे। लेकिन भारतीय मूल के मुसलमानों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था जैसा कि अमादुद्दीन रेहान के उत्कर्ष से पता चलता है। अभी भक्ति आंदोलन का ठीक तरह से आरंभ नहीं हुआ था और अभी दोनों के बीच धार्मिक दृष्टि से कटुता का भाव विद्यमान था। अकबर के युग में ये धार्मिक मतभेद उग्र रूप धारण कर चुके थे लेकिन सुल्तानों, अमीरों और आला तबके के लोगों ने भारतीय संगीतकारों को आश्रय दिया। सुल्तानों के दरबारों में नाच और गाने की महफिलें सजने लगीं, शायर कसीदे पढ़ते और गवैये गाना गाते थे। जब अपने राजकाज के कामों से अल्तमश थक जाता था तो ऐसी महफिलों का आयोजन करता था। वह कव्वाली भी सुना करता था। इन मजलिसों में दरबारी भी शरीक होते थे। जब सुल्तान बलबन लंबी बीमारी के बाद स्वस्थ हुआ तो खुशी में ढोल और नगाड़े बजाए गए और हर्षोत्सव मनाया गया। नौरोज़ के जश्न के मौक़े पर शायर अपना कलाम सुनाते और नर्तकियां सुल्तान और अन्य उपस्थित लोगों का मनोरंजन करती थीं। बर्नी का बयान है कि किश्लू खां के दरबार में देश के दूर-दराज़ के इलाकों के शायर और गवैये आते थे। उनका वहां सम्मान होता था। मदिरापान की महफिलों में सुरों के साथ ग़ज़लें भी पढ़ी जाती थीं। साथ ही नर्तकियां अपनी चंचलता और हाव-भाव से दर्शकों के आनंद को दोगुना कर देती थीं।

जौनपुर का शासक सुल्तान हुसैन शिर्की भारतीय संगीत का एक विख्यात गायक था। कहा जाता है कि उसने सत्रह रागों का आविष्कार किया था। 'खयाल' उनमें से एक है।

सुल्तान सिकंदर लोदी (1489-1517) संगीत का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार से कई गवैये और साजिंदे जुड़े हुए थे। हर रात को संगीत की सभाएं होती थीं और लोग शिरकत करते थे। अब्दुल्लाह ने सुल्तान के संगीत प्रेम और कलाकारों के साथ उसके व्यवहार की चर्चा करते हुए लिखा है :

> 'अगर साजिंदे और गवैये, जो फने मौसीकी में बेमिसाल होते, अगर हुजूर की खिदमत में हाजिर होते तो सुल्तान स्वयं उनका सत्कार न करता था बल्कि इस काम के लिए खास सरापर्दे के पास दो मित्र—सैयद रुहुल्लाह और सैयद इब्न रसूल—सुल्तान के हुक्म से मौजूद रहते थे। जो कलाकार भी आते वे इन दोनों को गाने सुनाते थे और सुल्तान भी साथ में सुनता था। कलाकारों में दस शहनाई वादक भी थे। वे लोग हर रात को एक पहर बीतने के बाद शाही दरबार में हाजिर होकर बारी-बारी से शहनाई बजाते थे। उनके लिए हुक्म था कि चहार मुकामों के अलावा कोई दूसरा राग न बजाएं। पहली मालकौंस, इसके बाद कल्याण (रामकली), इसके बाद कानड़ा और अंत में हुसैनी बजाकर बंद कर दें। अगर कोई कलाकार कोई दूसरी चीज़ गाता था तो उसको सज़ा दी जाती थी।'

सुल्तान सिकंदर ने पंद्रह सौ दीनारों में चार गुलाम खरीदे थे। उनमें से एक चंग, दूसरा कानून, तीसरा तंबूरा और चौथा वीणा बजाने में माहिर था। सिकंदर लोदी के ज़माने में संगीत पर एक किताब लिखी गई थी जिसका नाम *लहजात-ए-सिकंदरी* था।

सूरी सुल्तानों के शासन काल में संगीत कला की उपेक्षा नहीं की गई। सूरदास, इस्लामशाह के दरबार से जुड़ा हुआ था। उस समय के प्रसिद्ध गायक स्वामी हरिदास थे। मुहम्मद आदिल शाह सूर अपने जमाने का मशहूर गवैया था। और मालवा का शासक बाजबहादुर व तानसेन उसको बहुत मानते थे। आदिल शाह आदम-कद पखावज को हाथों और पैरों से बजाया करता था। संगीत से उसे इस हद तक लगाव था कि उसने एक भगत लड़के को संगीत में उसकी योग्यता के कारण पांच हजार का मनसब

1. वे निजी महफिलें जिनमें गवैए और नाचने वालियां आश्रय पाते थे।

(पृष्ठ 54 पर जारी)

विरलता का व्यवस्थित विन्यास

गोविंद प्रसाद

परंपरा के हिमायती मंसूरजी को परंपरा और क्रांति के बीच एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की पुष्ट और प्राचीन परंपरा रही है। इस विपुल परंपरा की थाती में से अपने लिए कुछ ऐसा चुन लेना जिसे आप अपना कह सकें, यह हर एक के बूते की बात नहीं। मल्लिकार्जुन मंसूर ऐसे ही विरल गायकों में थे जिन्होंने अपने गुरुओं तथा घराने को समर्पित होकर अपनी लगन, प्रतिभा और अथक परिश्रम से परंपरा के भीतर सर्जना के नए आयामों को छुआ। अंततः उन्होंने अपनी स्वर-साधना से यह सिद्ध कर दिखाया कि अनुपम, विरल और नए से नए होने की संभावनाएं और राहें परंपरा से ही होकर गुजरती हैं—प्रश्न परंपरा के प्रति निष्ठा का है, समर्पित होकर लगातार काम करने के साथ-साथ उस दृष्टि का है जिसके चलते कोई गायक कलाकार जीवन की हर धड़कन को एक नया अर्थ, नया आयाम और रूपों में निहित नई संकल्पनाओं को पहचान लेता है।

लगभग 60 वर्ष तक स्वर-साधना करने वाले पं. मल्लिकार्जुन मंसूर के दिवंगत होने के पश्चात एच.एम.वी. ग्रामोफोन रिकार्ड कंपनी ने उनकी गाई रचनाओं को चार खंडों में संकलित किया है। इन चुने हुए रागों में 'भैरव' और 'मारू बिहाग' जैसे लोकप्रिय राग भी हैं लेकिन साथ ही 'देवसाख', 'भानकर' और 'विहंग' जैसे अप्रचलित और दुर्लभ राग भी शामिल हैं। पं. मंसूर जैसे विरल गायक व्यक्तित्व के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष इन कैसेटों को सुनकर बखूबी सामने आते हैं लेकिन एक मुकम्मिल तस्वीर जिसकी अपेक्षा थी, वह पूरी तरह से नहीं उभर सकी।



रेखांकन : उदयशंकर

हैरानी होती है यह जानकर कि मल्लिकार्जुन मंसूर लगभग 60 वर्ष की पक्की उम्र में श्रोताओं को विधिवत प्राप्त हो सके। जबकि व्यसन की हद तक संगीत में डूबे पं. मंसूर के लिए अपने को अभिव्यक्त और परिभाषित करने का सबसे सरल और सहज माध्यम स्वर ही था। सहज और सरल ही क्यों, शायद सबसे प्राथमिक

और अंतिम साक्ष्य भी। फिर भी इतनी देर से वह संगीत के श्रोताओं को मिल पाए तो क्या यह उनकी स्वभावगत निश्छलता और सीधेपन का परिणाम था? क्या यह व्यावसायिक दुनिया की सांस्कृतिक धूर्तता/बदतमीजी का खमियाजा था जिसे गायक को और उससे अधिक प्रकृति से ही संगीत प्रेमी भारतीय जन-मानस को उठाना पड़ा? बहरहाल सब कुछ के चलते एच.एम.वी. जैसी स्वर के प्रति समर्पित कंपनी ने 'इकोज आफ ए सोलफुल वायस' शीर्षक के अंतर्गत पं. मल्लिकार्जुन मंसूर जैसे अप्रचलित रागों के बादशाह को चार खंडों में प्रस्तुत किया। इनमें 'भैरव' जैसे प्रातःकालीन राग से प्रारंभ होकर दोपहर के 'गौड़ सारंग' फिर 'बागेश्री' और 'संपूर्ण मालकौंस' से होते हुए सुबह से मिलते हुए रात्रि के अंतिम प्रहर के राग 'भानकर' और 'विहंग' पर आकर स्वर का यात्रावृत्त पूरा होता है। संगीत के जो नियमित श्रोता रहे हैं, उन्होंने अवश्य लक्ष्य किया होगा कि मल्लिकार्जुन छोटी-छोटी बंदिशें ही प्रायः गाते थे। लेकिन एक के बाद दूसरी के बाद तीसरी और कभी-कभी तो वह विभिन्न रागों की बंदिशों की झड़ी लगा देते थे। श्रोताओं को बिना अवकाश दिए अविराम गाते चले जाना उनकी आदत थी। एकाग्र स्वरों के हेर-फेर से रागों के स्वरूप को बदल देने और उसे अन्य रागों की छाया से बचाते हुए प्रामाणिक चरित्र को निखार देने में मंसूरजी का जवाब नहीं था। रागों को बदलने और विभिन्न मूड्स की बंदिशों को वह जिस सहजता और संयम के साथ रसात्मक निष्पत्तियों की ओर ले जाते थे, वह चमत्कारी कंठ-संयम और व्याकरण के पुष्ट आधार के बिना संभव नहीं था। यह जानकर और भी हैरानी होती है कि मंसूरजी कोई खानदानी गायक नहीं थे यानी उनके परिवार में उनसे पहले शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में किसी ने कदम नहीं रखा था। हिंदुस्तानी राग संगीत का पहला पाठ उन्होंने ग्वालियर घराने के स्तंभ पं. नीलकंठ बुआ की छत्र-छाया में सीखना आरंभ किया। उस समय वह लगभग 6-7 वर्ष के थे। पं. बुआ के कोई संतान न थी अतः मंसूरजी को वह मिरज स्थित अपने घर पर ही ले आए और लगातार चार-चार घंटे रियाज करवाते। पहले सुर, आकार, पलटों का रियाज, बंदिशें और बाद में पुरानी बड़ी-बड़ी बंदिशों की तालीम उन्होंने हासिल की। इसके बाद वह जयपुर-अतरौली घराने के उस्ताद मंजी खां—जो अल्लादिया खां साहब के पुत्र थे—के प्रिय शिष्य हो गए। उस्ताद अल्लादिया खां की गायकी के वारिस के रूप में यदि मुझे कोई एक नाम चुनना हो तो मैं कहूंगा पं. मल्लिकार्जुन मंसूर। यद्यपि उनका सीधा शिष्यत्व उन्होंने कभी ग्रहण नहीं किया।

अतरौली-जयपुर घराना स्वर लगाव के प्रति शास्त्रीय निष्ठा और व्याकरण के कड़े संयम के लिए तो जाना ही जाता है, साथ ही वह अप्रचलित रागों के लिए भी मशहूर है। इन दोनों खूबियों के साथ-साथ पं. मल्लिकार्जुन ने इस घराने में 'सहजता' को जोड़कर चार चांद लगा दिए। अपने गायन में परंपरा अर्थात क्लासिसिज्म को साधने के लिए जो कसरत पं. भीमसेन जोशी को करनी पड़ती है, वह मल्लिकार्जुन को नहीं करनी पड़ती। पं. मल्लिकार्जुन अपेक्षाकृत अधिक सरल और सहज हैं। मद्धिम आवेगमयता के साथ ही वह राग-रागनियों के उद्गम स्रोतों के भी अधिक निकट पड़ते हैं। उनके द्वारा गाई गई अधिकतर रचनाओं में (बोलों की दृष्टि से) रूप-आकार के स्तर पर हमें एक ओर लाघवप्रियता मिलती है लेकिन साथ ही उन छोटे रूपों में शिल्प के स्तर पर जो बीहड़ता व तानों का जटिल विन्यास मिलता है वह उनको परंपरा के भीतर एक नए सर्जक के रूप में स्थापित करता है। छोटी-सी बंदिश में लयों के इतने विभिन्न रूप वह दिखलाते थे, और अटूट रूप से जिन्हें सुनकर विस्मय से भर जाना स्वाभाविक था। परंपरा के भीतर जितना डायलेक्टिक्स संभव हो सकता है, उसका अधिकांश उनके गायन में मुझे दिखाई पड़ता है। संगीत एक ऐसी कला है जिसमें विचारों से सीधी टकराहट के लिए अवकाश जरा कम ही होता है। कारण, स्वर का माध्यम इतना अमूर्त है कि उसे लयात्मक संवेदन रूपों और तालबद्धता के आवर्तमान रूपों के आधार पर उभरने और आकार लेने वाली मनःस्थितियों के माध्यम से ही उन विचार-सूत्रों (वस्तु) को प्रकट किया जाता रहा है। विशिष्ट स्वर-समूह और उनका आरोह-अवरोह भाव-संवेदन को एक आकार में स्पष्टतर करता चलता है। गायन में यही आकार वैचारिक आयाम प्रदान करता है। विशिष्ट मनःस्थितियों का स्वर-लगाव उनका जटिल विन्यास और लयात्मक रूपों का सूक्ष्म चलन मन में होने वाली हलचलों-विचारों के आंतरिक/प्रछन्न सांचे को अपने सघन-सांद्र रूपों में सांकेतिक रूप से मूर्त करते हैं।

गायकी में कथ्य-वस्तु जैसी चीज अगर होती होगी तो उस जरा से 'क्रिस्टल' को प्रगतिशील रचनाओं के साथ-साथ उनकी सांगीतिक रचनाओं में तलाश करना पड़ेगा। इस स्तर पर अध्ययन करने से हम पाएंगे कि पुरानी गायकी जिसमें ग्वालियर, सहसवान, आगरा घराना और किराना घराने के कुछ गायक-गायिकाओं (पं. नीलकंठ बुआ, मंजी खां, केसर बाई केरकर, मोगूबाई आदि) की गणना अभिजातवादी अथवा क्लासिसिस्ट के तौर पर करनी होगी। यानी अठारहवीं शताब्दी से लगभग बीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक गायकी में अभिजातवाद प्रबल रहा। यह और बात है कि किराना घराने के प्रणेता अब्दुल करीम खां साहब को बकौल वामन हरि देशपांडे, 'पहले रोमेंटिसिस्ट या भाववादी समझे जाना चाहिए और भीमसेन जोशी की गणना अभिजातवादी या क्लासिसिस्ट के तौर पर ही करनी होगी।' इसी आधार पर अब्दुल करीम खां के साथ-साथ ओंकारनाथ ठाकुर, अमीर खां और कुमार गंधर्व व किशोरी अमोनकर, पं. जसराज जैसे गायकों को भी भाववादी गायकी के अंतर्गत रखना होगा। अभिजातवादी गायकी में कला के स्तर पर वास्तुशिल्प और गायकी में आकृति तत्व को प्रमुखता दी जाती है। जबकि भाववादी गायक भावोद्रेक को महत्व देते हुए 'आकृतित्व' की ओर बढ़ता है। बहरहाल इस दृष्टि से पं. मल्लिकार्जुन गायन की अभिजातबादी (क्लासिसिस्ट) परंपरा में ही शुमार किए जाएंगे।

जैसा कि हमने पीछे कहा कि मंसूरजी प्रायः छोटी-छोटी बंदिशों को एक दीप्ति के साथ गाते थे और बंदिशों पर बंदिशें विभिन्न रागों में गाते चले जाते थे। लेकिन इन छोटी-छोटी बंदिशों में स्वराकृति का अंदाज और एक के बाद एक क्रमशः आवर्तन की

निरंतर चढ़ते परिणाम की प्रस्तुति से गायकी में आकार तत्व का दिग्दर्शन कराते थे। उनकी गायकी में आकृतित्व के भीतर ही विचार अथवा कथ्य के रूप में कुछ नया खोजा जा सकता है। वह लय के संपन्नतर रूप और अप्रत्याशित जटिल तानों के मिश्रित विन्यास से अपने प्रभाव में सघन व्याप्ति के रूप में हमारे सामने आता है। एक सुर से दूसरे सुर तक पहुंचने में जो स्वर का अटूट प्रवाह है, वह गायकी में लय-रूप के धरातल पर महत्व रखता है। सतही तौर पर देखने में यह काम मंसूरजी के गायन का शिल्प भले ही लगे लेकिन वह अंततः है स्वर को साधने की साधना ही। लय के विभिन्न और संपन्नतर रूप दिखलाते हुए विलंबित के पूरे आवर्तन को एक ही सांस में कारीगरी से सजा देना उन्हीं का काम था। तालों की आवृत्तियां इस रूप में अनूठी थीं कि हर बात फिरत और घुमावदार तानों के बाद सम पर आने का अंदाज निराला था—जैसे कोई समर्थ शायर हर बार शेर में अंदाज से परे नए काफिए से श्रोताओं को विस्मय से भर देता है। इस स्थिति में तबलिए के लिए सम पकड़ना मुश्किल क्या, परीक्षा की घड़ी से कम नहीं होता था। श्रोताओं के लिए उनका कंठ-संयम, लयकारियों व ताल का विन्यास चमत्कार से कम नहीं था। लेकिन उन्होंने अपनी कठिन स्वर साधना और रियाज के बल पर उसे उतना ही सहज बना लिया था।

यह सहजता की पराकाष्ठा थी कि वह छोटी-छोटी बंदिशों में किसी भी राग की आत्मा को उसके स्वरूप के साथ इस तरह पकड़-कर उभारने की क्षमता रखते थे जैसे कोई चित्रकार कम से कम लाइनों में बल्कि सीधे ब्रश में रंग भरकर कोई बोलता हुआ रेखाचित्र बना दे—ऐसी थी उनकी गायकी और रागगत स्वर की पकड़। राग के चरित्र व स्वरूप को सूत्रों में ही व्याप्ति के साथ उकेरना उनके गायन की खूबी थी।

मंसूरजी के गायन में सहज, सरल, निश्छल झरने का-सा अजस्र आवेग तो मिलता है लेकिन उस निश्छल आवेग का सोता किसी बीहड़ वन के गर्भ में छिपे खरे और ठोस खनिज से अपनी सांसों के स्वर-तार जोड़ता था। उनकी गायकी का आस्वाद प्रकृति के बनैले रूप जैसा विराट किंतु अपने सहज सौंदर्य में आकर्षक होने के कारण असमंजस से भरने वाला था। असमंजस इसलिए कि प्रकृति के अनलंकृत रफ-टफ, व्यापक-भव्य और जटिल रूप को सहज रूप में उंडेल देना इस मेड टू ईच अदर' वाली संस्कृति में अपनी मिसाल आप है। उनकी सांगीतिक निर्मितियां (कंपोजिशंस) किसी समर्थ कवि की डायरी में टंके शक्तिशाली तथा खरे गद्य-रूप की तरह से देखी जा सकती हैं। लय और तालों के 'वेरिएशंस' देते-देते वह कभी-कभी इतने गद्यात्मक हो जाते थे कि गायन के क्षेत्र में लयात्मक स्तर पर बौद्धिकता क्या हो सकती है, समझ में आता था। अप्रचलित रागों के संदर्भ में स्वर की शुद्धता के प्रति उनका आग्रह बौद्धिकता का पांडित्य प्रदर्शन नहीं, बल्कि उनकी तालीम और वैयक्तिक सामर्थ्य की छटा भर था। उनके गायन तथा लघु आकार वाली बंदिशों में एक खुली विस्तीर्णता थी, एक अनवरुद्धता थी, व्यापकता और सघनता का सांद्र रूप मिलता था। एक ऐसा अजस्र और अनवरुद्ध प्रवाह, जिसे सिर्फ अंग्रेजी के 'स्पोंटेनिटी' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है।

मंसूरजी की आंखों में एक बहुत शदीद चमक और साथ ही बाल-सुलभ निश्छलता थी। इस निश्छलता का संबंध लोक के प्रति गहरी आसक्ति और आरोपित जीवन के तामझाम से दूर देसी ठाठ से दिखलाई पड़ता है। उनकी गायकी में विशेषतः स्वरों के प्रति शुद्ध आचार्यत्व और लय-तान रूपों में निहित जटिलता में, लक्ष्य करने वाली जो बात थी, वह थी—सादगी से भरे गायन में सहज निश्छलता। यानी उनके गायन में एक ओर पारंपरिक ढंग के अप्रचलित रागों को जिद की हद तक गाने का शुद्धतर जटिल रूप विन्यास तथा दूसरी ओर उनके गायन व्यक्तित्व में उसी कोटि की निश्छलता दिखाई देती थी। एक विलोम व्यक्तित्व की झलक (बल्कि इसे परस्पर पूरक व्यक्तित्व कहना अधिक संगत होगा) तो मुझे स्वयं उन्हीं में दिखाई पड़ती है। परंपरा के शुद्ध हिमायती होते हुए भी मंसूरजी को परंपरा और क्रांति के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में भी देखा जा सकता है। यद्यपि उनका झुकाव स्वरों के पारंपरिक विन्यास की ओर ही अधिक था।

नींद आने पर जितना स्वाभाविक सोना होता है, शायद जागने पर उससे भी सहज था पं. मल्लिकार्जुन मंसूर का गायन।

उनके गायन में आदि और अंत का रूप बहुत पारंपरिक अथवा व्यवस्थित मैंने कभी नहीं देखा। स्टेज पर बड़ी फुर्ती से आए, टोपी उतारी और सीधे-सीधे गाना शुरू—लगभग बिना आलाप लिए। राग को अंत करने की विधिवत परिपूर्णता तो उनके यहां और भी नहीं थी। वह कहीं से भी अपने गायन में उत्कर्ष दिखाने में सक्षम थे, आवश्यक नहीं था कि अंत पर पहुंचने पर ही राग अपने उत्कर्ष रूप को प्राप्त होगा।

संगीत गायन के क्षेत्र में वह विरल तो थे ही, काफी कुछ सहज और विकट भी थे। पं. मल्लिकार्जुन ग्वालियर घराने की एक बंदिश गाते थे—'जोगी मत जा', मीरा का यह भजन उनकी आवाज में सुनते हुए मुझे अक्सर लगता था, जैसे मंसूर अपनी आत्मकथा के स्वरों में रचे गए हिस्से हैं—जैसे अपने होने को वह इन स्वरों में खुद को देख रहे हों, अपना ही आईना बन। इस बंदिश को सुनना अनुभव की लौकिकता से परे चले जाना था।

और अंत में एच.एम.वी. ग्रामोफोन रिकार्ड कंपनी को साधुवाद, जिन्होंने एक साथ चार खंडों में पं. मल्लिकार्जुन मंसूर जैसे अप्रचलित रागों के बादशाह और विरल गायक की गायकी को इन कैसेट रूपों में सहेज लिया। प्रत्येक कैसेट में जहां रागों के गाए जाने का समय तथा वादी-संवादी स्वरों का विवरण दिया गया है वहीं प्रत्येक खंड में गाए जाने वाले रागों की बंदिशों के बोल भी अथवा प्रारंभिक पंक्तियों का उल्लेख भी यदि कर देते तो श्रोताओं को कुछ अधिक सुविधा सुनने के आधार पर होती। ❑

पांच कविताएं

केदार नाथ अग्रवाल



रेखांकन : उदयशंकर

84वें जन्मदिवस (जन्म : 1 अप्रैल, 1911) पर 'आजकल' परिवार की शुभकामनाएं

एक

मैंने
बागी घोड़ा देखा,
आज सबेरे
उछल-कूद करता, दहलाता–
जोरदार हड़कंप मचाता
गुस्से की बिजली चमकाता–
लप-लप करती देह घुमाता–
पट-पट अगली टांग पटकता–
खट-खट पिछली टांग पटकता–
कड़ी सड़क की
कड़ी देह को
कुपित कुचलता–
मुरछल जैसी देह घुमाता–
बड़ी-बड़ी क्रोधी आंखों से–
आग उगलता–
ऊपर-नीचे के जबड़ों के
लंबे-पैने दांत निपोरे,
व्यंग भाव से, ऐसे हंसता
अट्टहास करता हो जैसे।
पशु होकर भी नहीं चाहता पशुवत जीना,
मानववादी मुक्ति चाहता मानव से अब;
चकित चमत्कृत सबको करता,
मैंने बागी घोड़ा देखा,
आज सबेरे,
चौराहे पर।

(बांदा, 3.4.93)

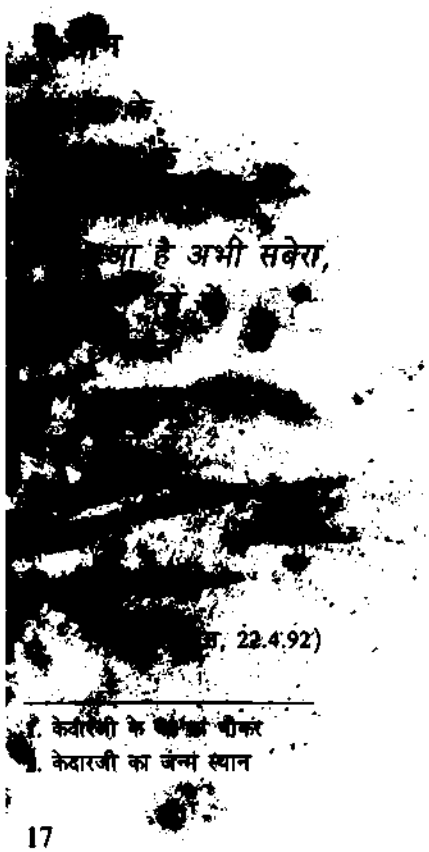
दो

आज की नहीं
बात है इकहत्तर साल पूर्व की,
तब था वह
जो अब नहीं है संसार में
और मैं हूं,
उसकी बात बताने को
कोई और नहीं
घर का नौकर, भरोसा[1]
दुबला-पतला,
देह का लकड़िहा,
गजब का दमदार,
उसी ने तो हम दोनों को–
मुझको और मेरे चाचा को–
कमासिन[2] से
दांदो घाट तक पहुंचाया था,
तब की बरसात,
बरस चुका था पानी,
सड़क में हो गया था कीचड़-कांदो
असंभव हो गया था
बैलगाड़ी का सड़क पर चलना,
संकट का समाधान भरोसा ने किया;
ले आया बहंगी;
बहंगी में लादे उसने आगे-पीछे,
हम दोनों के बकस-बिस्तर;

और चल पड़ा पैदल
कंधे से बहंगी लटकाए-लटकाए,
ग्यारह मील का सफर तय करने,
न चिंतित हुआ,
न घबराया,
प्रत्येक कदम उसने आत्मविश्वास से उठाया,
गंतव्य तक हम दोनों को
सकुशल
सामान के साथ पहुंचाया।
याद है मुझे
घर से चलते समय
भरोसा ने मुझे
प्यार से पुचकारा था,
सनेह से थपथपाया था
अंग्रेजी पढ़ने के लिए उकसाया था
रायबरेली जाने को
उचित ठहराया था
तब मैं
फूलकर कुप्पा हो गया था!
वही तो है वह भरोसा
कोई और नहीं—
जो आज याद आया है फिर से
और याद में स्वयं सदेह
चला आया है

गए को याद दिलाता—
और मुस्काता
तब न जानता था धन्यवाद देना—
कृतज्ञता को व्यक्त करता
अब,
आज,
अपने इस पोपले मुंह से मैंने
उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की
नतमस्तक होकर
मैंने उसे/धन्यवाद दिया—
वह
ओझल हो गया/और मैं
इसी बांत को लेकर
कविता लिख सका
भरोसा की दी कविता
भरोसा को समर्पित/कर सका ❑

(बांदा, 7.9.93)



...ा है अभी सबेरा,

...ा, 22.4.92)

1. केदारजी के पैतृक घर
2. केदारजी का जन्म स्थान

चार

ये—
बारूद-बहादुर—
छोटे-बड़े पटाखे
आग पकड़ते ही फट जाते,
धुआं छोड़ते—
धरती को
धुंधलाते—
शांति भंग कर
झट मर जाते! ❑

(मद्रास, दिवाली-25.10.92)

पांच

प्यार न पाता
तो क्या होता?
घास-फूस की झाड़ी होता—
बेपेंदे की हांड़ी होता—
बिना सूत की आंड़ी होता—
मूसर होता
कांड़ी होता—
बेपहिए की गाड़ी होता—
सबसे बड़ा अनाड़ी होता—
गूंगी खड़ी पहाड़ी होता—
बंगाले की खाड़ी होता! ❑

(मद्रास, 16.3.93)

पतन और संघर्ष के छोर

कलकत्ता में हुए अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह की कुछ चुनिंदा विदेशी फिल्मों पर **दीवान सिंह बजेली**

भारत का पच्चीसवां अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह हाल ही में कलकत्ता में संपन्न हुआ, जिसमें भारत सहित विभिन्न देशों की लगभग 157 कथा तथा वृत्त चित्रों को देखने का अवसर मिला। समारोह में कुछ महत्वपूर्ण देखने को नहीं मिला क्योंकि कान, बर्लिन, वेनिस, मांट्रियल और तोक्यो जैसे विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में पहले से ही पुरस्कृत अधिकांश महत्वपूर्ण फिल्में विश्व सिनेमा खंड में शामिल थीं। आधुनिक मनुष्य की कशमकश और अपने परिवेश से उसकी टकराहट जिस तरह इस समारोह में अभिव्यक्त हुई, वह सिनेमा माध्यम के सामर्थ्य का द्योतक था।

हालीवुड की चमक-दमक हमेशा की तरह इस बार भी जमकर नजर आई। फिर भी *फ्री विली* जैसी कुछ फिल्मों में विश्वव्यापी अपील थी और कुछ फिल्मों में अमेरिकी समाज में सांसारिक सफलताओं को प्राप्त करने की सीमा पर पहुंची हवस की पतनोन्मुखता तथा अकेलेपन को दर्शाया गया था। *दि एसोल्ट* और *गोरिल्ला बाथ्स एट नून* जैसी कुछ यूरोपीय फिल्मों में फासीवादी ताकतों द्वारा मानवीय भावनाओं को कुचलने के डरावने दृश्यों को पुनः प्रदर्शित किया गया था। साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान मुक्तिदाता की भूमिका निबाहने वाला सोवियत संघ धीरे-धीरे एक आततायी के रूप में परिणत हो किस तरह पूर्वी यूरोप के देशों के आंतरिक मामलों में दखल-अंदाजी करने लगा, जिसकी परिणति अंततः इन देशों में साम्यवाद के अंत में हुई दर्शाई गई थी। *दियन बिएन फू* और *गोइंग होम* जैसी फिल्मों में साम्राज्यवादी ताकतों को उन्हीं लोगों द्वारा जिनका उन्होंने बरसों शोषण किया था, पराजित होने के बाद अपराधभाव से ग्रस्त होना दर्शाया गया है। कई फिल्मों में स्त्री-पुरुष के सार्वदेशीय पक्षों को प्रभावकारी ढंग से दर्शाया गया था।

अमेरिका और यूरोपीय देशों की अधिकांश फिल्मों का मुख्य विषय आदमियों की यौन विकृतियों के विभिन्न पक्ष थे। *दि बिटर मून* को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके विपरीत लातिन अमेरिकी और एशियाई देशों की फिल्मों में जीवन के कटु सत्य को बहुत सुंदर ढंग से दर्शाया गया है और इनमें मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित व्यवस्था के मूल कारणों पर भी चर्चा थी। इस संदर्भ में फर्नांदो सोलानास की *जर्नी फ्राम अर्जेंटीना* का विशेष रूप से उल्लेख जरूरी है। फ्रांसिस्को एथिए द्वारा निर्देशित फिल्म *लोलो* में मैक्सिको की वर्तमान सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की जबर्दस्त भर्त्सना थी जो कि तीसरी दुनिया के अधिसंख्य देशों पर लागू होती है।

सोलानास, जो कि तीसरे सिनेमा के प्रतिपादक और सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध व तीसरी दुनिया के लोगों के प्रति समर्पित फिल्म निर्माता हैं, खुलकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के इरादों का विरोध करते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि उनकी फिल्म *जर्नी* इस समारोह की सबसे चर्चित फिल्म बन गई और जिसे दर्शकों ने दिल खोलकर सराहा।

दि जर्नी न केवल लातिन अमेरिकी देशों, बल्कि अफ्रीकी-एशियाई देशों के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें विकासशील देशों के शासक वर्ग, औपनिवेशिक शक्तियों तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अर्थव्यवस्था और आर्थिक सुधारों के नाम पर गरीब देशों की संपदा की खुली लूट की जबर्दस्त आलोचना थी। यह फिल्म नव-औपनिवेशिक ताकतों के शोषण का दीरतापूर्वक विरोध करने वाले लोगों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

जब फिल्म लगभग पूरी होने वाली थी, तब सरकार ने फर्नांदो को धमकाने की कोशिश की थी। उन पर मानहानि का मुकदमा दायर किया गया और गोली चलाई गई। इसकी विश्व भर में तीखी आलोचना हुई और अंततः किसी तरह फिल्म प्रदर्शित हुई। फर्नांदो कलकत्ता समारोह में आए हुए थे। अपनी फिल्मों की चर्चा करते

हुए उन्होंने बतलाया कि "मेरी अंतिम तीनों फिल्में *टांगोस, दि इक्ज़ाइल ऑफ गार्डेल* और *दि जर्नी*—अर्जेंटीना के लोगों को संबोधित हैं। एक विशिष्ट लातिन अमेरिकी सिनेमा की मेरी खोज में इन्होंने सीढ़ी का काम किया है। यह खुशी की बात है कि मैं अपनी तीनों फिल्मों, विशेषतया *दि जर्नी* के माध्यम से विश्व दर्शकों से तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो सका। *दि जर्नी* ने इस अवधारणा को झुठला दिया है कि एक विशेष राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्में सफल नहीं होतीं।"

एक शोषित समाज के प्रति सरोकार और कलात्मक गुणों के अलावा यह फिल्म व्यावसायिक दृष्टिकोण से भी सफल रही है। यह फिल्म अर्जेंटीना के टूटे-फूटे घर में रहने वाले एक युवा छात्र मार्टिन के आंतरिक द्वंद्व से शुरू होती है। उसकी मां ने दूसरी शादी कर ली है और पिता देश छोड़कर दूसरी महिला के साथ रहने लगा है। मार्टिन को गुस्सा है। वह अपने जीवन से असंतुष्ट है और अपने सौतेले पिता से उसका लगातार संघर्ष चलता रहता है। वह संपूर्ण लातिन अमेरिका घूमना चाहता है। एक सुबह वह अपनी साइकिल पर, कोई गंतव्य निर्धारित किए बिना ही, लंबी यात्रा पर निकल पड़ता है। उसकी एकमात्र इच्छा इस संसार के रहस्य को समझने और अपने पिता से मिलने और उनके साथ रहने की है। लेकिन उसे अपने पिता के रहने की जगह के विषय में कुछ मालूम नहीं है। मार्टिन की आंखों के माध्यम से कैमरा लातिन अमेरिका के उस जीवंत समाज को दिखाता है, जिसे बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके स्थानीय सहयोगियों ने बर्बाद कर दिया है। हमारा सामना बेइंतहा गरीब पर अपने देशों के आर्थिक शोषण का विरोध करने के लिए प्रतिबद्ध लोगों से होता है। हमें मीलों लंबी ऐसी ऊसर भूमि भी देखने को मिलती है, जहां कभी घने जंगल हुआ करते थे। कुछ दृश्यों में बहुत बड़े पैमाने पर बेरोजगारी और जरूरी वस्तुओं के अविश्वसनीय ऊंचे दाम भी दिखाए गए हैं। इसमें कुछ ऐसे चित्र हैं, जिनमें अतियथार्थवादी ढंग से युवकों को अपने जीवन-यापन के लिए भवनों के निर्माण-कार्य में लगे रहने के लिए अभिशप्त दिखाया गया है। यह फिल्म आर्थिक संकट और पतन के द्वार पर खड़ी और अकर्मण्यता के कारण सड़ती हुई व्यवस्था को दर्शाती है।

निर्देशक ने एक निराशाजनक स्थिति को बयान करने के लिए गहरे फोकस वाले दृश्यों के अलावा प्रकाश का उपयोग करते हुए विशाल क्षेत्र को पकड़ने के लिए 'लांग शाटों' का इस्तेमाल किया है। इस फिल्म में बहुत जोर की आवाजों से लेकर लगभग फुसफुसाहट तक की विविध ध्वनियां शामिल हैं। इस फिल्म का स्वर दुखद से लेकर उन्मुक्त हास्य तक को छूता है। इन देशों के भ्रष्ट शासकों को हास्यास्पद रूप में दर्शाया गया है, जो कि मखौल का पात्र बनते हैं।



इसमें वर्णन करने का ढंग गैर-पारंपरिक है, जो हालीवुड की कारण और प्रभाव वाली क्लासिकी तर्ज से मेल नहीं खाता। इस प्रकार फिल्म में शुरुआत तो है, लेकिन इसका कोई उत्कर्ष अथवा उपसंहार नहीं है। यद्यपि निर्देशक नव-उपनिवेशवाद का कट्टर विरोधी है, पर वह प्रजातंत्र, स्वतंत्रता और समानता को सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक विकास का विकल्प देने में पूरी तरह सफल नहीं हुआ है।

मैक्सिको की फिल्म *लोलो* में उस समाज के पतन को दर्शाया गया है—जिसमें श्रमिक वर्ग का दमन एक सामान्य बात हो गई है। यह वह समाज है जिसमें युवा वर्ग अपराधी बनने पर मजबूर है, जो समाज हत्या एवं वेश्यावृत्ति के आधार पर फल-फूल रहा है और जिस समाज की पुलिस इस सीमा तक भ्रष्ट है कि अपराधी गिरोहों द्वारा आम जनता से लूटी गई संपत्ति में हिस्सा लेती है।

नवयुवक लोलो, फिल्म का मुख्य पात्र है। वह एक लोहे के कारखाने में बहुत कम मजदूरी पर काम करता है और जब वह अपनी तनख्वाह में की जा रही मनमानी कटौती का कारण पूछता है, तो उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। उसे कारखाने के मालिक के गुंडों द्वारा धमकाया और मारा-पीटा जाता है। वह बेरोजगार युवक सड़कों पर घूमता रहता है और एक मासूम लड़की से प्यार करने लगता है। लेकिन अपने सारे नेक इरादों के बावजूद हत्या कर बैठता है। इस क्रूर समाज में निर्दोष और सच्चे इंसान के लिए कोई जगह है ही नहीं।

निर्देशक फ्रांसिस्को एथिए ने घटनाओं के लिए बहुत सुविधाजनक ढंग से अपेक्षित वातावरण पैदा किया है। जिसमें आधुनिक मैक्सिको की झोंपड़पट्टियों में जिंदगी का दर्द भरा चित्रण किया है और उससे अप्रभावित युवकों एवं हिंसा को दर्शाया है।



(बाएं) निर्देशक फर्नांदो सोलानास व उनकी फिल्म 'जर्नी' का एक दृश्य

इसमें विडंबना और कटु हास्य का मिला-जुला रूप है। क्षोभ से भरी यह फिल्म कहती है कि ऐसे समाज से बचने का एकमात्र उपाय इसे छोड़ देना है।

इज़राइल के आसी दयान की फिल्म *लाइफ एक्कार्डिंग टु अगफा* अत्यंत कलात्मक फिल्म है। इसे तेल अवीव के शराबखाने में फिल्माया गया है। एक प्रकार से यह शराबखाना इज़राइली समाज का लघु रूप है। शराबखाने की मालकिनें—डालिया और लियोर, दो महत्वपूर्ण चरित्र हैं और अपनी खामियों के बावजूद वे मानवीयता से पूर्ण, प्यारे चरित्र हैं। इसके विपरीत उनके पुरुष प्रेमी अपरिपक्व और गैर-जिम्मेदार दिखाए गए हैं। इस शराबखाने के संरक्षक इज़राइली समाज के प्रतिनिधि हैं। इनमें सिरफिरे सैनिक, वेश्याएं, अपराधी, संगीतकार और कवि भी शामिल हैं। रसोईघर में एक अरब भी काम करता है, जो शेष इज़राइली समाज की भांति यहां भी महत्वहीन है। जैसे-जैसे विभिन्न चरित्र आपस में और मालकिनों से बातचीत करते जाते हैं, वैसे-वैसे जिंदगी के विरोधाभास उजागर होते जाते हैं। इसमें विडंबना और कारुणिकता का प्रवाह है। शराबखाने का विध्वंस और उसकी मालकिनों एवं ग्राहकों की हत्या न केवल दहशतपूर्ण है, बल्कि एक ऐसे समाज की आंतरिक उथल-पुथल को, जो अपने अस्तित्व को एक विरोधी माहौल में ताकत के बल पर स्थापित करना चाहता है, बड़ी बारीकी से दिखलाता है। फिल्म पहले दृश्य से आखिर तक अत्यंत रोचक बनी रहती है।

मिस्र की जनता ने इज़राइल के साथ हुए युद्ध एवं साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा छेड़े गए स्वेज़ युद्ध के फलस्वरूप बहुत कष्ट उठाए हैं। *लिटिल ड्रीम्स* में एक विधवा एवं उसके पुत्र गरीब का यातनामय संसार दर्शाया गया है। उसे एक निर्दयी मालिक के प्रेस में काम करना पड़ता है, जो बाद में उसकी मां से शादी कर लेता है।

गरीब का पिता 1956 के स्वेज़ युद्ध में मारा गया था। वह स्वयं भी जन-आंदोलन में शामिल हो जाता है और जमाल नासिर उसका आदर्श बन जाते हैं। इधर अरब-इज़राइल युद्ध होता है और वह अपना घर, मां तथा भय और भूख से मुक्त जीवन जीने के छोटे-छोटे सपने आदि सभी कुछ से हाथ धो बैठता है।

खालेद-अल-हैग्गर द्वारा निर्देशित इस फिल्म की कथात्मक संरचना सीधी और स्पष्ट होने के साथ-साथ आडंबरविहीन है। लेकिन इसमें गहन मानवता के दर्शन होते हैं, जो कि हिंसा का विरोध करती है। फिल्म युद्ध की भयावहता और जीवन में उसके प्रभाव को दर्शाती है।

भारत और चीन के पर्वतीय इलाकों में रहने वाले लोगों के सामाजिक नजरिये और उनकी परिश्रम करने की क्षमता में काफी समानताएं हैं। दोनों देशों के पर्वतीय क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाओं का अत्यंत अभाव है। पर्वतीय लोग अपनी कठिन जिंदगी के बावजूद गर्वीले, संवेदनशील और शहर के ठगों के आसान शिकार हैं। चीनी फिल्म *स्टोरी आफ क्यू जू* में इन्हीं पहलुओं को सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

ज्यांग यीमाऊ द्वारा निर्देशित इस फिल्म में कोई तकनीकी चमक नहीं है। इसके कुछ अंशों को अव्यावसायिक कलाकारों ने फिल्माया है और इसमें कलाबाजी कहीं नजर नहीं आती। परंतु दर्शकों को, इसकी सिनेमाई शैली की सादगी और ग्रामीण समाज व उसके संवेदनशील लोगों का यथार्थपरक वर्णन आकर्षित करता है।

फिल्म की मुख्य चरित्र निडर महिला क्यू जू है। वह गर्भावस्था के अंतिम चरण में है। उसके पति को गांव का मुखिया पीट देता है, इस पर वह न्याय के लिए मुखिया के खिलाफ संघर्ष करती है। नौकरशाही से न्याय पाने के लिए उसे जबर्दस्त मुश्किलों से गुजरना पड़ता है। दोनों पक्षों को हर स्तर पर समझौता करने की सलाह दी जाती है और क्यू जू के पति के इलाज में होने वाले खर्च को वहन करने के लिए मुखिया पर आर्थिक दंड का भी सुझाव आता है। परंतु क्यू इससे संतुष्ट नहीं है। वह इस निर्णय के विरुद्ध अपील करती है। वह सिर्फ यह चाहती है कि मुखिया से स्पष्टीकरण मांगा जाए कि उसने एक पुरुष के गुप्तांग पर क्यों प्रहार किया।

दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात पर अड़े रहते हैं और क्यू की न्याय के लिए एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में जाने की कठिन यात्रा जारी रहती है। अंततः निर्णय ऐसे समय आता है, जब क्यू शांति चाहती है और अपने प्रसव के दौरान मुखिया द्वारा बचाए जाने पर आभार व्यक्त करना चाहती है। इस प्रकार फिल्म का अंत विडंबनापूर्ण ढंग से होता है।

इसमें महिला द्वारा किए गए संघर्ष के साधारण चित्रण से कहीं गहरे अर्थ छिपे हैं। वे हैं—चरित्रों की मानवीयता, उनकी संवेदनशीलता और संकट के क्षणों में एक-दूसरे के काम आने का अहसास, जो दर्शकों पर उदात्त प्रभाव छोड़ता है। चरित्रों में यद्यपि जटिलता नहीं है, फिर भी लगता है कि ये सीधे यथार्थ जीवन से लिए गए हैं।

वियतनाम में दियन बिएन फू का नाम, आज गुलाम लोगों के महत्वपूर्ण संघर्ष के इतिहास का ही एक हिस्सा है। यह विश्व साम्राज्यवाद का कब्रिस्तान भी है। इस बेनाम घाटी में 1954 में फ्रांस की अत्यंत शक्तिशाली और तरह-तरह के अस्त्रों से लैस सेना को वियतनाम के भूखे-नंगे, परंतु अत्याचारियों को हराने के प्रति दृढ़ निश्चयी, लोगों ने आत्मसमर्पण करने के लिए मजबूर किया था।

फ्रांसीसी निर्देशक पियरे स्कॉनडोरफर की फिल्म *दियन बिएन फू* में इस ऐतिहासिक युद्ध, सैनिकों की नियति और फ्रांस की शर्मनाक हार का चित्रण किया गया है। इसमें दो स्थानों—हनोई और युद्ध के मैदान के दृश्य हैं।

फ्रांसीसी सेना चारों ओर से घिर गई है, उनके हौसले पस्त हैं और सैनिक भाग रहे हैं। जरनलों की समझ में कुछ नहीं आ रहा है।

लंबी-चौड़ी फ्रांसीसी सेना के लिए यह उद्देश्यहीन युद्ध है। फिल्म में 57 दिन तक चले युद्ध तथा फ्रांसीसी युवकों के हताहत होने से हुए विनाश का विस्तार से वर्णन है। इसमें जख्मी सैनिकों और थके हुए डाक्टरों का रुदन है, जो कि इतने बड़े पैमाने पर हुई मानवीय पीड़ा सें निपटने में सक्षम नहीं हैं। कैमरा विस्तृत घाटी को विभिन्न कोणों से दिखलाता है। इसका संपूर्ण प्रभाव हिला देने वाला है।

लड़ाई के मैदान और हनोई में जीवन के दृश्य इस तरह दिखलाए गए हैं कि स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कौमों के बीच हो रहे निर्णायक युद्ध के बावजूद वियतनामी फ्रांसीसी संस्कृति और वहां के लोगों से प्यार करते हैं।

युद्ध से हुए निपट विनाश की भावना को संप्रेषित करने में फिल्म का संगीत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। संगीत की बार-बार बजने वाली धुन फिल्म को समरसता प्रदान करती है और मरे हुए उन सैनिकों के लिए, जिन्हें दफनाया नहीं जा सका है, शोक गीत का काम करती है। युद्ध एवं संगीत कंसर्ट को बारी-बारी से दिखलाना मानव नियति की विडंबना को प्रस्तुत करने में मदद करता है।

इस पर भी निर्देशक ने फ्रांस की पराजय के कारणों की गहराई से जांच नहीं की है। उसे वियतनाम के लोगों की ओर से युद्ध का नेतृत्व कर रहे जनरल जियाप की बेहतर रणनीति और युद्ध कौशल को रेखांकित करना चाहिए था। यह फिल्म मुख्य रूप से उन दंभी देशों की शर्म और अपराध-बोध से भरी अभिव्यक्ति है, जिन्हें देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण गुलाम बनाए गए लोगों के हाथों मात खानी पड़ी। इस पर भी फिल्म एक अनावश्यक युद्ध के विनाशकारी परिणामों पर आलोचनात्मक टिप्पणी करती है।

जापान के प्रख्यात फिल्म निर्देशक अकीरा कुरूसावा सभी तरह की और सभी जगह पर फिल्म बनाने में माहिर हैं। उनकी फिल्मों में परंपरा और आधुनिकता का समन्वय होता है। उनकी फिल्म *राशोमन* ने जापानी सिनेमा से विश्व को परिचित कराया था। उनकी बहुत-सी फिल्मों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सराहा गया है।

भारत के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में 40वें दशक के मध्य में जापान की स्थिति पर बनाई गई उनकी नई फिल्म *नाट यट मैडाडयो* प्रदर्शित की गई। इस फिल्म का मुख्य पात्र जापानी प्रोफेसर है, जो अपना संपूर्ण समय लेखन-कार्य में लगाने और उसी को अपनी आजीविका का जरिया बनाने के उद्देश्य से अपने पद से त्याग-पत्र दे देते हैं। उनके भूतपूर्व छात्रों का एक समूह उन्हें बहुत मानता है और हर साल अपने प्रोफेसर का जन्मदिन बहुत धूमधाम से मनाता है। अध्यापक और भूतपूर्व छात्रों के संबंध अत्यंत प्रभावशाली हैं। प्रोफेसर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान हुए जापान के विनाश के गवाह हैं। उनका अपना घर तक तबाह हो गया है, परंतु उन्हें इसका मलाल नहीं है और वह अपनी पत्नी के साथ एक साधु की तरह जीवन बिताते हैं। उनके छात्रों ने, जो अब तक स्वयं भी दादा बन गए हैं, उनके लिए एक घर बनवाया है। प्रोफेसर को अपनी बिल्ली से



'फेयरवेल-माई कॉनक्यूबाइन' का एक दृश्य

बहुत प्रेम है। एक सुबह वह बिल्ली कहीं गुम हो जाती है और उसके साथ ही प्रोफेसर की सुख-शांति भी समाप्त हो जाती है।

अंततः दूसरी बिल्ली लाई जाती है और इस तरह प्रोफेसर की मानसिक शांति और सुख-चैन धीरे-धीरे वापस लौटता है।

फिल्म का बड़ा भाग हास-परिहास से पूर्ण है, परंतु बिल्ली के गुम होते ही मनोदशा में परिवर्तन आ जाता है। फिल्म में अपना एक अलग तरह का प्रवाह है, मानवीय संवेदना से परिपूर्ण, कोमल और मानवीय मूल्यों के प्रति चिरस्थायी विश्वास तथा जानवरों के प्रति प्रेम को बहुत कुशलता से फिल्माया गया है।

फिल्म समारोह का केंद्र बिंदु क्रज़ीस्जूतोफ किसलोओस्की की *थ्री कलर्स-ब्ल्यू*, जेन कैपियन की *पियानो* और चेन वैगस की *फेयरवेल-माई कॉनक्यूबाइन* फिल्में रहीं। ये विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोहों में पहले ही काफी चर्चित हो चुकी हैं और इन्हें एक के बाद दूसरे देश में घुमाया जा रहा है।

फेयरवेल-माई कॉनक्यूबाइन फिल्म लिलॉन के उपन्यास पर आधारित है, जिसमें अतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध पीचिंग आपेरा की कहानी को चीन की उथल-पुथल से भरी ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है। पहले युद्ध-प्रेमी शासकों के क्रूर शासन को चित्रित किया गया है, जिनका तख्ता कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा पलटा गया और फिर सांस्कृतिक क्रांति का दौर चला। इस ऐतिहासिक उथल-पुथल में भी पीचिंग आपेरा लगातार चलता

रहा। यहां तक कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापानी आधिपत्य भी इसे समाप्त नहीं कर सका।

फिल्म की यदि बनावट देखी जाए, तो इसमें नाटक के भीतर नाटक है। यह फिल्म विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में रह रहे कलाकारों के वास्तविक जीवन तथा नाटक में उनकी भूमिका के मध्य सामंजस्य स्थापित करने में होने वाली कठिनाइयों का एक अध्ययन भी है। फिल्म में कई परतें हैं और जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याएं हैं। *फेयरवेल माई कॉनक्यूबाइन* पीचिंग आपेरा की कई नाटिकाओं में से एक रचना है जिसे बार-बार मंचित किया जाता है। दो लड़कों को आपेरा गायकों के रूप में प्रशिक्षित किया गया है। दाऊजी महिला और शितोऊ पुरुष की भूमिका निभाता है। शितोऊ ने आपेरा में राजा के चरित्र का अभिनय किया है, जो रखैल की भूमिका अदा कर रहे दाऊजी के पास हारने के बाद विदाई लेने जाता है। रखैल राजा से सच्चा प्रेम करती है और उसके लिए वह अपनी जान दे देती है। वास्तविक जीवन में भी दाऊजी शितोऊ से प्रेम करने लगता है। परंतु शितोऊ दाऊजी के प्रेम को समझने की बजाय एक असली रखैल के चक्कर में पड़ जाता है। इस प्रकार कलाकारों की असली जिंदगी और उनके द्वारा अदा किए गए नाटकीय पात्रों की जिंदगी के मध्य एक स्थायी द्वंद्व चलता रहता है। इसी के साथ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्तनों के घटनाक्रम ने कलाकारों के जीवन में भी नाटकीय परिवर्तन ला दिया है। इस तरह फिल्म में विभिन्न स्तरों पर द्वंद्वात्मक संघर्ष चलता रहता है।

फिल्म में आपेरा गायक बनाने के लिए बच्चों को बर्बरतापूर्वक प्रशिक्षण देने के दिल दहला देने वाले दृश्य हैं। परंतु फिल्म में पीचिंग आपेरा की महान परंपरा के बारे में अधिक नहीं कहा गया है और इसके उत्कृष्ट मगर संश्लिष्ट कला-कौशल को एक या दो संवादों में ही समाप्त कर दिया गया है। फिल्म का मुख्य दोष यह है कि यह कम्यूनिस्ट क्रांति द्वारा कलाकारों की जिंदगी और आपेरा कंपनी के प्रशासन में लाए गए परिवर्तनों पर कोई टिप्पणी नहीं करती। वास्तव में यह क्रांति ही थी, जिसने कलाकारों की सृजनात्मकता के लिए अवसर प्रदान किए और उन्हें दासता से मुक्ति दिलाकर सुरक्षा और सृजनात्मकता के अवसर प्रदान किए।

यद्यपि फिल्म तकनीकी रूप से महत्वपूर्ण है तथा कला और जीवन, कलाकारों और नाटक में खेले गए चरित्रों से संबद्ध प्रश्नों को उठाती है, परंतु यह मूलतः सांस्कृतिक क्रांति के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। यह फिल्म चीन के गौरवमयी कला रूपों, उसके लोगों और उनके इतिहास के प्रति एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

पियानो फिल्म कला का अविस्मरणीय उदाहरण है, जो सर्वजनीन मानवीय भावनाओं और कलाकार की गहरी सृजनात्मक प्रेरणा को प्रस्तुत करती है। इसमें तीन चरित्र हैं—स्काटिश विधवा एडा, जो न्यूज़ीलैंड में बसे स्टीवार्ट से शादी करने के लिए तैयार है और माऊरी स्त्री के साथ रहने वाला गोरा बायनेस उन्मुक्त प्रेम के द्वंद्व में फंस जाते हैं। विधवा को *पियानो* बहुत प्रिय है, इसलिए वह उसे भी अपने साथ न्यूज़ीलैंड ले जाती है। इस वाद्य को जहाज से ले जाने की समस्या भी ऐसी स्थिति पैदा करती है कि इनके बीच का द्वंद्व और तीव्र हो जाता है।

कैमरे ने समुद्र की विशालता, इसके तूफानी समुद्र-तट और चरित्रों के आंतरिक द्वंद्व को बहुत सुंदरता से पकड़ा है। पियानो को ले जाते समय नाव का संतुलन बिगड़ना और समुद्र की गहराइयों में डूब जाने के दृश्य अद्‌भुत हैं। विधवा को डूबने से बचाने के दृश्य विस्मयकारी हैं। ये दृश्य वस्तुओं और घटनाक्रमों के आंतरिक व बाह्य विभिन्न पहलुओं को दर्शाने की फिल्म माध्यम की अथाह क्षमता का प्रमाण हैं। मूक विधवा एवं कामेच्छा से त्रस्त दो पुरुषों तथा विधवा एवं उसकी पहली शादी से उत्पन्न पुत्री के बीच के संबंधों का फिल्मांकन, शब्दों की मितव्ययिता और भावाभिव्यक्ति में बेजोड़ बन गए हैं। खामोशी उतनी ही प्रभावकारी है जितना कि संगीत। फिल्म में जेन कैंपियन की निर्देशन क्षमता और पात्रों का उत्कृष्ट अभिनय देखते ही बनता है।

थ्री कलर्स-ब्ल्यू फिल्म एक ऐसी औरत के मन की पीड़ा को दर्शाती है, जो कार दुर्घटना में अपनी पुत्री और प्रख्यात संगीतकार पति को खो चुकी है। यह फिल्म अपनी सिनेमाई उत्कृष्टता के साथ-साथ स्मृति में लौट-लौट कर आने वाले दृश्यों के कारण अविस्मरणीय बन गई है।

निर्देशक सिनेमा माध्यम पर अपनी पकड़ और कल्पना की नवीनता का उत्कृष्ट प्रदर्शन करता है। मानव के भावों एवं अंतर्द्वंदों को अभिव्यक्त करने के लिए वह दृश्यों, प्रकाश के प्रभावों, सिनेमा-कला की क्षमताओं को औजार के रूप में प्रयुक्त करता है। ऊंचाइयों से लिए गए शहर के विहंगम दृश्यों को बेचैन पात्रों के क्लोज-अप शाट्स के बरअक्स रखकर दिखलाया गया है।

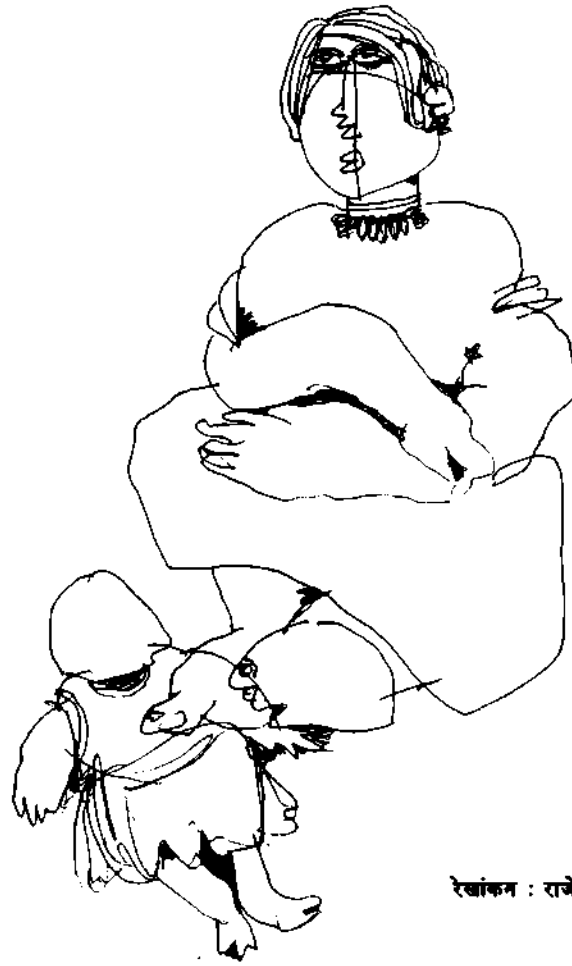
फिल्म की नायिका जूली अपनी पारिवारिक दुर्घटना के कारण भावात्मक रूप से टूट चुकी है और उसे अपना जीवन व्यर्थ लगता है। लेकिन मानसिक पीड़ा के बावजूद वह मूल रूप से सहृदय, सौम्य और सबकी मददगार बनी रहती है। जब उसे पता चलता है कि उसके स्वर्गीय पति की एक पत्नी और है जिसका एक लड़का भी है, तब उसकी पीड़ा व हताशा और गहरा जाती है।

इस फिल्म की शक्ति मूलतः सिनेमाई तत्वों का सृजनात्मक उपयोग एवं कलाकारों से उत्कृष्ट अभिनय करवाने में निर्देशक की क्षमता में है।

दृश्यों से बाहर की ध्वनियों एवं संगीत का शक्तिशाली ढंग से प्रयोग न केवल अपेक्षित मनोभाव पैदा करता है, बल्कि कहानी का अंग भी बन जाता है।

समारोह की समाप्ति के कई दिन बाद भी विभिन्न सशक्त दृश्यों का स्मृति में घुमड़ते रहना इस समारोह में प्रदर्शित फिल्मों के निर्देशकों के सृजनात्मक सामर्थ्य को श्रद्धांजलि है। लेकिन अभी हमारे समारोह को अपनी अलग पहचान बनाने के लिए तत्काल पुरजोर प्रयास करने की आवश्यकता है। ❑

अनुवाद : रजनी सूद



रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

मेरा विवाह

दिलीप कौर टिवाणा

पंजाबी से अनुवाद : मनजीत कौर भाटिया

प्यारे,

आप मेरा खत पढ़कर हैरान तो जरूर होंगे। कई बार मन चाहा कि आपको खत लिखूं लेकिन फिर यही सोचा कि अगर मम्मी को पता लग गया तो वह दुखी होंगी। कई बार मन चाहा कि उनसे आपके बारे में कुछ पूछूं लेकिन जब भी बात छेड़ती हूं, वह परेशान हो जाती हैं और मैं बात बीच में ही छोड़ देती हूं।

पापा, मम्मी कभी भी आपको बुरा नहीं कहती हैं, यह आप भी बहुत अच्छी तरह जानते हैं फिर....फिर!

आप तो पापा, अब तक मुझे भूल ही चुके होंगे? मैं बहुत छोटी थी जब आप और मम्मी हमेशा-हमेशा के लिए अलग हो गए थे। अब तो मैं बहुत बड़ी हो गई हूं। कुछ दिन पहले हमारे घर एक औरत आई थी। जब मैं कालेज़ से घर आई, मम्मी उससे बातें कर रो रही थीं। मुझे देखकर वह बोली, "यह तो बिल्कुल ही अपने बाप पर गई है।" क्या मैं सचमुच ही आप पर गई हूं, पापा?

मेरा बहुत मन किया कि उसके साथ आपके बारे में बहुत-सी बातें करूं। आपके बारे में बहुत कुछ पूछूं। लेकिन मम्मी ने मुझे चाय बनाने भेज दिया। फिर भी मैं बहाने बना-बना कर उनकी बातें सुनती रही। उनकी बातों से मुझे पता लगा कि आप पटियाला में किसी कालेज में पढ़ाते हैं। पटियाला से लुधियाना का सिर्फ दो घंटे का ही तो सफर है। कितने साल गुजर गए हैं पापा, लेकिन यह दो घंटे निकालकर तुम कभी हमारे पास नहीं आ सके। मम्मी के साथ भले ही तुम्हारी लाखों नाराजगियां होंगी, लेकिन पापा, क्या मैं भी आपको कभी याद नहीं आती? क्या मेरी उम्र की किसी लड़की को देखकर कभी खयाल

नहीं आता कि मेरी भी ऐसी ही बेटी है? लेकिन पापा, मुझे तो आप बहुत याद आते हैं।

कई महीने पहले हम दो लड़कियां और हमारी एक प्रोफेसर पटियाला कालेज में हुई एक वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने आई थीं। क्या आप उस समय वहीं थे? मेरा मन बड़ा बेचैन हो रहा है कि काश! मुझे तब पता होता कि आप वहां हो। मैं खुद आकर आपको बुला लेती।

कई बार कहीं गाड़ी में, सड़कों पर या फिल्मों में भी जब किसी अच्छे आदमी को देखती हूं तो ख्याल आता है, शायद मेरे पापा भी ऐसे ही हों—शायद यही मेरे पापा हों और तब मन चाहता है कि उस अजनबी, पराए आदमी के गले से लिपट जाऊं। लेकिन ऐसा करना गलत होता है न, पापा? इस तरह एक बार एक आदमी की तरफ शायद मैं देर तक देखती रही। बस से उतरते समय धीरे से वह मेरे हाथ में एक चिट पकड़ा गया। लिखा था—शाम को घंटाघर के पास तेरा इंतजार करूंगा। कितनी बेहूदी बात है न? मुझे तो आपको बताते हुए भी शर्म आती है। मम्मी ठीक ही कहती हैं कि जमाना ही खराब है। उस दिन मुझे बहुत ही रोना आया। शायद वह जानता था कि हमारे घर में उसे जूते लगाने वाला कोई नहीं है। तभी तो इतनी हिम्मत हो गई उसकी! लेकिन शक्ल-सूरत से तो वह काफी बड़ी उम्र का लगता था।

हां, सच पापा, मेरी क्लास में एक लड़की आपके कालेज से पढ़कर आई है। मैं आपके शहर के प्रोफेसरों की कितनी ही बातें उससे पूछती रही। सोचती थी, आपके बारे में भी जिक्र करेगी। उसने बताया आप पढ़ाते समय बहुत डांटते हैं। लोगों की बेटियों का तो आप इतना ख्याल रखते हैं। कभी आपको अपनी बेटी की याद नहीं आती?

पापा, वह लड़की बताती थी कि आपकी एक छोटी-सी बेटी है और एक बेटा है। मैंने उनको देखा नहीं है लेकिन कई बार बहुत मन करता है कि मेरे भी छोटे बहन-भाई हों। कभी वह मेरे से सवाल समझें, कभी मैं उनको स्कूल जाने के लिए तैयार करूं और कभी-कभी हम इकट्ठे फिल्म देखने जाएं।

पापा, सुना है, दूसरा विवाह करते समय आपने उन लोगों से वादा किया था कि आप अपनी पहली पत्नी और बेटी के साथ कोई संबंध नहीं रखेंगे। पापा, दूसरी मम्मी कहीं मेरे इस खत को देखकर नाराज तो नहीं होंगी? और अगर कभी मैं आपके शहर आऊं, और आपको मिलने आपके घर भी आ जाऊं, क्या दूसरी मम्मी आपसे बहुत खफा होंगी? क्या तब आप भी मुझे

मैंने मम्मी को एक बार कहा था, "मम्मी, मेरा पापा से मिलने को बहुत जी करता है।" तब वह रो पड़ी थीं और कहने लगीं, "जिनके पिता मर जाते हैं वे भी तो सब्र कर लेते हैं...."

मैं अंदर तक कांप गई। कितनी देर तक भगवान के आगे प्रार्थना करती रही कि हे भगवान, मेरे पापा को कभी कुछ न हो।

एक दिन पड़ोसियों की लड़की ने मुझसे पूछा कि तेरे पापा कहां रहते हैं? क्या करते हैं? वह तुमसे मिलने क्यों नहीं आते? मैं कोई जवाब न दे सकी। शायद उसे कुछ



झिड़ककर लौटा देंगे? पापा, अगर कभी एक बार, सिर्फ एक बार मुझे बांहों में भींचकर प्यार कर लो, मुझे तसल्ली हो जाए। फिर चाहे आप कहीं भी रहें, मुझे भरोसा हो जाएगा कि आप मुझे प्यार करते हैं।

पापा, मैं यह कभी नहीं चाहती कि आपके घर में कोई मुसीबत खड़ी हो, लेकिन फिर भी जाने क्यों दिल चाहता है कि आप कभी दूसरी मम्मी से पूछकर एक बार मुझसे मिलने आ जाइए। वह भी तो एक औरत है, एक मां हैं। सिर्फ एक बार, पापा....।

पता नहीं है या फिर कुछ लोग जान-बूझकर ऐसी बातें छेड़ देते हैं। यह तो मैं भी समझती हूं कि रोज-रोज के लड़ाई-झगड़े से तो अच्छा है कि अपनी राहें अलग कर लो। लेकिन जब कोई पूछ लेता है तो बड़ी तकलीफ होती है।

पता नहीं क्यों पापा, मम्मी कई बार खामख्वाह गुस्सा करने लगती हैं। उनका अपना मन ठीक नहीं होता और

(पृष्ठ 44 पर जारी)

"कविता आदमी के मन को समझकर उसको विश्वास दिलाती है"

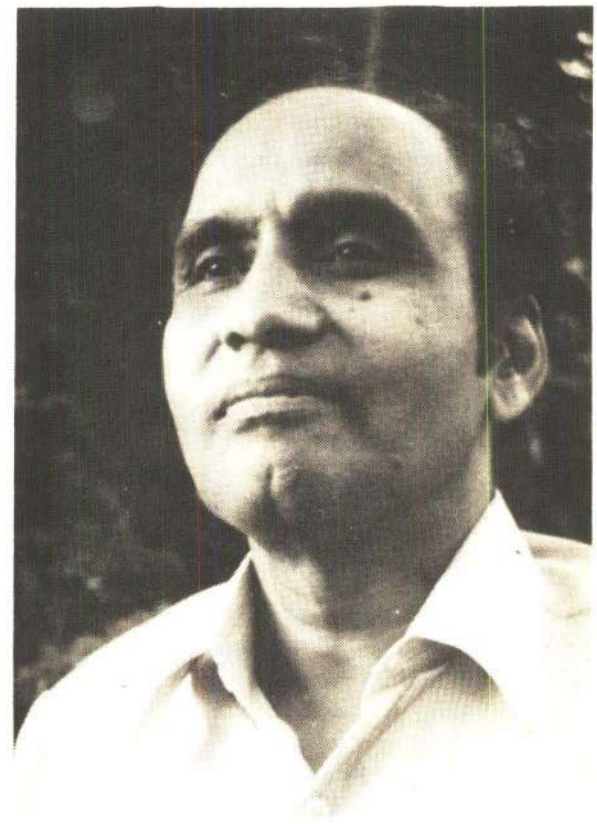
स्व. गिरिजाकुमार माथुर से **माजदा असद** *की लंबी बातचीत का एक अंश। यह बातचीत सन 1991 में दिल्ली में हुई थी।*

प्रश्न : रेडियो और दूरदर्शन से आपका निकट का संबंध रहा। इस संदर्भ में कुछ उपलब्धियों के बारे में बतलाइए?

उत्तर : कविता के लिए अंग्रेजी, उर्दू, फारसी और संस्कृत सबको मिलाकर नई रसात्मक भाषा मैंने बनाई है। सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को मेरी भाषा अभिव्यक्त कर सकती है। क्योंकि तत्सम भाषा एक हद तक जाती है और जनपदीय भाषा दूसरे छोर तक जाती है। बाजारू भाषा, उसकी जो सूक्ष्म अच्छाइयां अर्थ की हैं वे परतें खोलती चली जाती है। जैसे 'छाया मत छूना मन' में एक जगह है—*जीवन में है सुरंग, सुधियां सुहावनी।* अब देखो, इसमें देशज भी है और संस्कृत तत्सम भी है; और देशज रूपी सुधियों की *छवियों की चित्रगंध उसमें फैली मनभावनी।* मनभावनी शब्द जो है वह देशज है, सहज है, छवियों की चित्रगंध। अब जो चित्रगंध है चित्र की स्मृति आते ही गंध भी साथ में जुड़ी चली आती है, यह हमारी अभिव्यक्ति की एक विशेष छाप है, या तो कवि लिखेगा गंध या लिखेगा चित्र, चित्रगंध अलग है। मैंने यही किया है, ध्वनि से प्रकाश को मिला दिया है। शाम का झिरपुटा-सा होता है। गजल डूब रही है, सूरज डूब रहा है, शाम की धूप में।

'शाम की धूप' में आपने छंदों का प्रयोग अनूठे ढंग से किया है?

छोटी बहर उर्दू की है। वहां छंद तो नहीं दिया मैंने। नींद क्यों रात भर नहीं आ रही है या *आगे आती थी, हाले दिल पर हंसी, अब किसी बात पर नहीं आती* है। इसका छंद नहीं लिया बल्कि उसकी लय ली। यही मैंने किया, कवित्त की लय ले ली। सवैयों की लय लेकर, उसे तोड़कर *आज हैं केसर रंग रंगे बन* सवैये को तोड़कर किया। घनाक्षरी तोड़कर सीधा-सादा नहीं लिखा, उसकी लय ले ली। इस प्रकार के छंदों में भी मैंने अनेक अन्वेषण किए 38 से 40 के बीच में।



आपने एक ओर नवगीत लिखे और दूसरी ओर मुक्त छंद, आप दोनों में तालमेल कैसे बना पाए?

मेरी जो ऊर्जा है, उसे सबसे पहले निराला जी ने नोटिस किया था। प्रदीप और रामचरण शर्मा भी उन दिनों लिख रहे थे। बाद में

वे फिल्मों में चले गए। उन्होंने *चल चल रे नौजवान* जैसे गीत लिखे थे। बड़े सुंदर गीत थे। निराला ने उनके गीत भी सुने और मेरे गीत भी सुने। मेरी मुक्त छंद की कविता सुनी तो उन्होंने कहा कि बड़ी ऊर्जा है। इनमें महाकाव्यात्मक गुण हैं। वे 'राम की शक्ति पूजा' लिख ही चुके थे। यह ऊर्जा वाला जो पक्ष है यह भी उसी आशा का पक्ष है, 'उल्लास' का, ताकत का, जो बुंदेलखंड की कविता और संकल्पशीलता से मिला, जो माधुर्य है, लोक लालित्य, वे मेरे व्यक्तित्व के दोनों ही पक्ष हैं। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अलग नहीं हैं। मैं जिंदगी को भी इसी रूप में देखता हूं कि जो माधुर्य है, ऊष्मा है, वह भी है और व्यक्ति की जो संकल्पशीलता है, जूझने की शक्ति है, वह भी इसमें है। इन दोनों को सम्यक रूप में व्यक्त करना आवश्यक है, सामाजिक यथार्थ को भी और सौंदर्य अनुभव को भी। प्रेमानुभव और सौंदर्य तो मेरा केंद्रीय भाव है। इसके साथ ही साथ सामाजिक यथार्थ से टकराहट और सौंदर्य की कल्पना भी जिंदगी ने दी।

भाषा को लेकर भी आपने प्रयोग किए?

मैं बता रहा था। चित्रगंध जैसी बात मैंने बताई या कि और नीली रात चंदोवे वाली, पंख गिरा जो मोर का, चंदोवा देशज शब्द है तो इस प्रकार की भाषा का नया पयोग रेडियो में मैं लेकर गया। जनसामान्य की भाषा उठाकर साहित्यिक और कलात्मक पीठिका पर बैठाना आसान काम नहीं है, उसे काव्य की भाषा बनाना, प्रतिमान, विचार की भाषा बनाना बड़ा कठिन काम है। एक बात और, मेरी कविता में बिना विचार के कोई बात नहीं है, हमेशा एक विचार चलता है पीछे, गीत भी अगर होता है तो उसमें भी विचार चलता है। *छाया मत छूना मन* में भी एक विचार है पूरा–'जो है यथार्थ कठिन, उसका तू कर पूजन', विचार चल रहा है–विचार सिर्फ एक बंध में नहीं होता कि अनुप्रासात्मकता उसमें है तो विचार आ जाए। अनुप्रास की उंगली, तुकांत की उंगली पकड़कर विचार आ जाए, ऐसा नहीं है। अधिकतर कवि ऐसा ही करते हैं। एक छोटा-सा गीत है मेरा–

हरी-हरी धूप की किरण-सी लता।
उठी बैंजनी रंग की फूल तुरई बजा।।

इसमें एक विचार चल रहा है। पृथ्वी का उल्लास। अधिकतर आलोचक यह समझते हैं कि यह प्रकृति का चित्रण किया गया है। इसमें और कोई मूल्य नहीं है। मूल्य है प्रकृति से जितना दूर चला जा रहा है आदमी आजकल, उतना ही गांव और जनपद से भी दूर चला जा रहा है। उतना ही अपनी जन-संस्कृति से दूर चला जा रहा है। प्रकृति की तरफ वापस लौटना इसलिए भी आवश्यक है कि न केवल प्रचारात्मक रूप से ही प्रकृति का संरक्षण करना है बल्कि अपनी सांस्कृतिक परंपरा को पहचानना भी प्रकृति के साथ जुड़ाव है।

प्रकृति का जो सौंदर्य पक्ष है, उसका पूजा पक्ष है, वह कहीं महत्वपूर्ण है। प्रकृति इस देश की सबसे बड़ी चीज है। सारी कविता और संस्कृति सब प्रकृति से जुड़ी हैं। जितने यहां के पूजा-पाठ हैं, संस्कार हैं, सब प्रकृति से जुड़े हुए हैं। एक-दूसरे को नीचा दिखाकर प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति का विरोध भी प्रकृति से जुड़ाव है। सामाजिक विद्रोह का यह अर्थ नहीं है कि आप व्यवस्था को गाली देते चले जाएं, आक्रोश में। क्रांतिकारी भावना यह है कि जिंदगी आगे बढ़ती है, अवरोधों को हटाते हुए। प्रकृति का अर्थ केवल 'नेचर' नहीं। मानव का स्वभाव अर्थात मानवीय गरिमा व न्याय, सच्चाई में भी प्रकृति है। स्वाभाविकता है, वह भी नैसर्गिक अधिकार है मनुष्य का। इसलिए मुक्त छंद की कविता हमारे यहां अलग नहीं मानी गई। हमारे यहां भारतीय साहित्य में इतना लालित्य है, गीतात्मकता है, माधुर्य है, क्या उस जमाने में प्रगति नहीं थी? कालिदास को, वाल्मीकि को, किसी को भी देख लीजिए, प्रकृति का उल्लास ही उल्लास है, कविता तो जीवन के आलोक की वाणी होती है। मैं मानता हूं कविता की सार्थकता इतनी है कि वह इस मूर्त दुनिया से टकराहट की दुनिया है।

आप परंपरा और प्रकृति की बात कर रहे हैं। आपको तो आधुनिक माना जाता है?

मेरी कविताओं में तो आधुनिकता है। लोग कहते हैं माथुर साहब आधुनिकतावादी हैं। वैज्ञानिक चेतना है। जितने भी पश्चिमी प्रतीक हैं *खुला मौसम थम गई बरसात नम, मनोरम फाल का मौसम*। अज्ञेय ने जब पहले मेरी कविता सुनी, तो उन्होंने कहा, "माथुर साहब आपने तो ये कविता अंग्रेजी में लिखी थी, बाद में हिंदी कर दी। बड़ी आधुनिकतावादी कविता है।" मैंने कहा कि "हां उसी तरह आरंभ होती है, लेकिन यह पश्चिम की जो औद्योगिक और उपभोक्ता संस्कृति है उसकी कविता नहीं है बल्कि मेरी मिट्टी में जमकर आधुनिकतावादी बनी है। इसलिए यह भारतीय आधुनिकता है। इसी प्रकार मार्क्सवाद को भी मैंने लिया। राजनीतिक सत्ता और अर्थशास्त्र की तो बहुत अच्छी व्याख्या की गई है मार्क्सवाद में, पर साहित्य और संस्कृति का जो मानवीय पक्ष है, उसकी व्याख्या कहीं नहीं है। उसकी व्याख्या मैंने अपनी परंपरा में जोड़कर की। लोक-जागरण की परंपरा की मिट्टी में मार्क्सवाद को रोपकर उसे अपनाया कि आदमी समय का परिवर्तन कर सकता है, नियतिवाद की आवश्यकता नहीं है। लेकिन जो दूसरे निषेधवादी मूल्य हैं वे मैंने स्वीकार नहीं किए।

उस काल की परिस्थितियों, आंदोलनों के बारे में आपका क्या विचार है?

युद्ध शुरू हो गया था, विपन्नता बढ़ रही थी। छायावाद की अतींद्रियता और कल्पना सन 36 में समाप्त हो गई थी। बीच के जो कवि आए–नवीन, माखन लाल चतुर्वेदी, बच्चन, दिनकर, नरेंद्र शर्मा, इनमें नरेंद्र शर्मा को छोड़कर बाकी लोग नियतिवादी थे। गरीबी को वे नियति मानते थे। सबसे पहले मार्क्सवाद ने दिखाया कि यह नियति नहीं है। सामाजिक व्याख्या उसने की और उसके साथ ही जब द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हुआ, दबाव आया, उससे जो नई सामाजिक चेतना पैदा हुई उसकी अभिव्यक्ति सबसे पहले मेरी कविता में हुई। केदारनाथ अग्रवाल में भी हुई। रामविलास शर्मा भी कविता लिखते थे उस जमाने में। दूसरे कवि थी थे। नई कविता का आंदोलन चला, उसमें अस्तित्ववाद का भी प्रभाव था। प्रगतिशील लोग नई कविता के विरोधी थे। नई कविता वाले प्रगतिशीलता के विरोधी थे, इसलिए थे कि उस जमाने में स्टालिनवाद चल रहा था। प्रगतिशील चाहते थे कि साहित्य को विचार के रूप में इस्तेमाल किया जाए। नई कविता वाले यह सब नहीं मानते थे। आपस में आरोप लगते रहे। प्रगतिवादियों के लिए वे व्यक्तिवादी थे। नई कविता वालों के लिए वह कविता थी। राजनीति थी। कविता राजनीति से तो

प्रभाव नहीं ग्रहण करती लेकिन राजनीति को साथ-साथ देखती है। साहित्य सब देखता है। जो तमाम मूल्य है उन्हें पहचाने बिना यथार्थ की पहचान नहीं हो सकती। उस यथार्थ की पहचान, राजनीति की पहचान आवश्यक है। यह विचार के माध्यम से ही हो सकती है। लेकिन मानवीय संवेदना साहित्य का मूल आधार है। राजनीतिक चेतना का आधार यथार्थ है, सत्ता है, व्यवस्था है। इसलिए कविता राजनीति के तमाम यथार्थ को ग्रहण करती है और उसका परिष्कार भी करती जाती है। आदमी के मन को समझकर उसको विश्वास दिलाती है। यह कविता की सार्थकता है।

आपकी कविता के प्रारंभिक चरण में आपकी आंतरिक प्रेरणा कविता का कारण बनी, बाद में ऐसा लगता है कि बाह्य जीवन उस पर ज्यादा हावी रहा है। दोनों में आप किस तरह से सामंजस्य बिठा पाए?

ये बाह्य जीवन और आंतरिक जीवन कोई अलग-अलग निकाय नहीं हैं। कवि का एक व्यक्तित्व भी है। कवि बाहर से कटा रहे और सिर्फ आत्ममंथन ही करता रहे तो कविता क्या बनेगी? बिना बाहरी अनुभव के, बिना जीवनानुभव के आंतरिक सोच-विचार से थोड़े ही कविता बनती है। मेरी कविता दुनिया से टकराव भी करती है। इस टकराहट में जो मानसिक उद्वेलन, जो भावनाएं जाग्रत होती हैं वे कविता को समृद्ध करती हैं। कोई कविता न तो जीवन से कटकर बन सकती है और न ही इसमें उसकी सार्थकता है। इसलिए इसमें अंतर और बाह्य का यह जो विभाजन कृत्रिम रूप से किया गया है, सही नहीं है। इसका सही रूप यही है कवि का व्यक्तित्व एक है और जितना प्रखर मर्मशील उसका व्यक्तित्व होगा, जितना तेजी से वह बाहर के भावों को आत्मसात करेगा और अपने अनुभवों के साथ-साथ मिलाएगा और जो परंपरा है उसके मूल्यों को नवीनतम करके उनके साथ चलेगा, यही कविता सही मायने में अपनी जमीनी कविता होगी। आप प्रभाव ढूंढते रहेंगे कि यह मार्क्स का प्रभाव है, अस्तित्ववाद का प्रभाव है, यह इलियट है, ये-वो है के चक्कर में पड़ जाएंगे। कवि की जो अपनी अंतरंग सत्ता है, बाह्य सत्ता से अलग नहीं है। कवि जो बोलता है वही अनुभव करता है, वही कवि सामाजिक दायित्व के रूप में प्रस्तुत करता है। कभी उसे महाकाव्यात्मक ऊर्जा के रूप में अभिव्यक्त करता है, कभी मुक्त छंद में और कभी प्रगति के साथ। कभी प्रेम और संदेश की कविता लिखता है क्योंकि वे भी जीवन का एक अंग हैं।

साहित्य की दूसरी विधाओं में आपने कम लिखा है?

नहीं, मैंने आलोचना भी लिखी, नाटक लिखे। गद्य भी लिखा। गद्य के बहुत-से मेरे लेख अभी प्रकाशित नहीं हैं। धीरे-धीरे प्रकाशित होते रहे हैं। मैंने रचनात्मक गद्य लिखा है, लेकिन कोई संकलन नहीं छापा, लेकिन मेरी आलोचना छपी है—'नई कविता : सीमा और संभावनाएं'। वह बड़ी विचार प्रधान आलोचना है। मेरा प्रमुख क्षेत्र कविता ही रहा है।

हिंदी साहित्य की जो धाराएं चल रही थीं उनमें आप पूरी तरह फिट नहीं हो पाए। सीधे-सीधे यह नहीं कहा जा सकता कि आप किस वाद, किस वर्ग के कवि हैं?

ये वाद वर्गीकरण आलोचकों के किए हुए हैं। समग्र रूप से देखा जाए तो 1940 से 1970-80-90 तक की जो कविता है इसमें दो ही रूप रहे हैं। मेरा अपना मूल्यांकन है कि सन 1940 से 1990 तक की कविता, चाहे उसे व्यक्तिवादी कहिए, नई कविता कहिए, प्रगतिवादी कहिए, अकविता या जनवादी कविता कहिए, मेरी दृष्टि से वह, हमारे समाज में 50 वर्षों में जितने परिवर्तन हुए हैं और परिवर्तनों में जितने प्रतिमान आए हैं, जीवन मूल्य आए हैं, उन दोनों को व्यक्त करने वाली कविता है। एक जीवन मूल्य यह आया कि आदमी अपने समाज की रचना मनोनुकूल कर सकता है। दूसरा जीवन मूल्य यह आया कि जीवन का धर्मनिरपेक्ष, सैक्यूलर और लौकिक आधार होता है। तीसरा मूल्य आया जनतांत्रिक जो मानवीय गरिमा और न्याय का अन्याय के विरोध में, सामाजिक न्याय के पक्ष में। चौथा मूल्य आया कि व्यक्ति की गरिमा भी उतनी ही महत्वपूर्ण है इसलिए समाज, व्यवस्था और राजनीति का, सत्ता का, स्वरूप भी महत्वपूर्ण है।

इस बीच में बहुत-से निषेधात्मक रूप भी आए, वे विदेशी प्रभाव से आए थे। कुछ देर चले और खत्म हो गए। यह संयोग है कि मुझको सभी आंदोलन अपर्याप्त लगते रहे। कहीं न कहीं मुझे लगता रहा कि उनमें कमी है। जो भारतीय दृष्टि है, समग्रतापूर्ण दृष्टि है। जीवन को समग्र रूप में देखने की जो प्रवृत्ति रही है, जिसमें प्रकृति है, सौंदर्य है, समाज-व्यवस्था है, राजतंत्र है, जिसमें शहर है, गांव है, हर जगह है और जिसका केंद्रीय आधार मनुष्य है। मेरी कविता में यही मानवीय आधार मुख्य है। मैंने अपने समय को अपनी कविता में भरपूर व्यक्त किया है।

बाकी लोगों ने भी तो उसे व्यक्त किया है।

बाकी लोगों ने, मैं ऐसा नहीं कहूंगा कि व्यक्त नहीं किया है। उन्होंने एक पक्ष में व्यक्त किया है। निराला जी को ले लीजिए। अपने दोनों रूप में व्यक्त किया है—सौंदर्य के रूप में भी और महाकाव्यात्मक ऊर्जा के रूप में भी। प्रसाद का भी यही रूप है। कालिदास, वाल्मीकि, व्यास का भी यही रूप है। यही परंपरा चलती रही है। भर्तृहरि ने श्रृंगार शतक भी लिखा और नीति शतक भी और वैराग्य शतक भी। मैं इसलिए इनमें फिट नहीं बैठता क्योंकि मुझे लगता है कि ये जो वाद हैं, इनमें बांध कर कविता का मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। वैचारिक आधार दृष्टिकोण देता है। वह दृष्टिकोण मानवीय हित में है या नहीं? यह मानवीय न्याय, मानवीय मुक्ति के हित में है या नहीं? मानव को भीतर और बाहर से मुक्त करता है या नहीं? आदमी को खाने-पीने को तो मिलता रहे पर किसी तानाशाही में पड़ा आदमी अंदर से भयभीत रहे तो क्या फायदा? यह पूरी तरह से मुक्ति तो नहीं हुई। आंतरिक मुक्ति भी आवश्यक है। यह सर्वांग दृष्टि है। मैंने परिपूर्ण मनुष्य को अभिव्यक्त करने की कोशिश की है। जितने भी परिवर्तन हुए युद्ध के परिप्रेक्ष्य में, मेरी कविता में अभिव्यक्त हुए। जो तमाम नए प्रगतिशील जीवन मूल्य आए, लोकतांत्रिक मूल्य आए, स्वतंत्रता आई, उसके बाद जो विरोधाभास पैदा हुए, बाद में जो विकृतियां पैदा हुई, उन्हें भी मैंने व्यक्त किया है। साथ ही साथ तमाम अन्याय का प्रतिरोध भी मेरी कविता में बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत है। ❑

'मेरे लिए एक क्षण ही कविता है'



रेखांकन : उदयशंकर

इस वर्ष के ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित उड़िया कवि सीताकांत महापात्र का प्रथम काव्य-संग्रह *दीप्ति ओ द्युति* 1963 में प्रकाशित हुआ था। उसके चार साल बाद 1967 में *अष्टपदी* नामक दूसरा संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह को उड़ीसा साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। सन् 1971 में प्रकाशित उनके 'शब्दर आकाश' संग्रह को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इन तीन काव्य-संग्रहों के उड़िया में प्रकाशित होने के बाद प्रबुद्ध पाठक सीताकांत के काव्य की ओर बरबस आकर्षित हुए।

मिट्टी और मिट्टी को छूते हुए आ-जा रहे असहाय लोग, पेड़ के छोर पर घोंसला बनाकर रहने वाली नन्ही-नन्ही चिड़ियां तथा पुराण के मैले-कुचैले बस्ते से किसी यशोदा, किसी वासुदेव, किसी कुब्जा को बाहर लाकर उनसे मनुष्य के अपराजित भाग्य को जोड़ना ही सीताकांत महापात्र की कविताओं की विशेषता है। उनके बारे में हिंदी के सुपरिचित कवि रघुवीर सहाय का कहना है कि 'आधुनिक और परंपरासम्मत चिंतन का हिंदी के बाहर के काव्य जगत में सीताकांतजी ने सार्थक बोध कराया है। यदि वह हिंदी में लिख रहे होते तो उनकी मातृभाषा उड़िया की कारयित्री प्रतिभा और उस भाषा की ऐतिहासिक परंपरा के वैभव से हिंदी उपकृत ही हुई होती। हम कृतज्ञ हैं उन अनेक संश्लिष्ट बिंबों, प्रतीकों और चरित्रों के लिए जो इतिहास, पुराण और वर्तमान यथार्थ से निकालकर सीताकांतजी ने कवित्व की आंच में तपाकर दीप्त कर दिए हैं।'

चिड़िया, चित्रोत्पला नदी, सुबह, सांझ, बारिश, अंधकार, नन्ही-नन्ही सूर्य की किरणें आदि कवि सीताकांत की कविताओं के अति परिचित प्रतीक हैं। ये तरह-तरह से विभिन्न अर्थों में उनकी कविताओं में दिखाई देते हैं। कवि कहता है—'नहीं, कविता मेरे लिए किसी आश्चर्य, विस्मय भरे, अद्‌भुत सत्य की खोज नहीं है। इसके लिए 'यूरेका' कहकर नाचने लगने का सवाल ही नहीं उठता। मेरे लिए नित्य ही कविता है, बीत रहा जीवन ही कविता है। न समझ पाना, वजह न ढूंढ पाना, तर्क से अर्थ न तलाश पाने की लगातार हताशा ही कविता है। मेरे लिए एक क्षण ही कविता है। उसी का स्वप्न, उसी की स्मृति ही कविता है। वही क्षण जो बस खो जाने वाला है, सूर्य की अंतिम किरण की तरह। जो एक बार डूब गई तो दुबारा ठीक उसी तरह नहीं निकलेगी इस हृदय-आकाश में।' निश्चित ही सीताकांतजी समय के एक-एक क्षण को बड़ी खूबी के साथ अपनी कविता में पिरोते चलते हैं और यही कारण है कि हमें उनकी कविताओं में विगत और आगत के प्रत्येक क्षण का आस्वाद साथ-साथ मिल जाता है।

प्रस्तुत हैं उनकी कुछ ताजा कविताएं :

मत पूछो मुझसे, प्रिय मित्र

सीताकांत महापात्र

मत पूछो मुझसे
सदी, तारीख और सन् की बात
मत पूछो सूर्यास्त, मेघ, ओस
दोस्त, परिजन, देश, इतिहास की बात।

रास्ते भर कबंध
सड़े-गले शव, खून से सने चाकू
रक्त का झरना खो जाता है कीचड़ में
टकराता है अंधे इतिहास और चट्टानों से
पूरे रास्ते रक्त की होली रक्त की लहरें।

कल नहीं होता स्मृति बिना
कल नहीं आशा, स्वप्न
आकांक्षा और प्रतीक्षा के बिना।

फिर भी मैं घर-घाट
सो रही पत्नी और पुत्र को
छोड़कर नहीं जा पाया हूं घने अरण्य में
मेरी तपस्या है खिड़की के निरंजना-तट पर खड़े हो
चुपचाप आकाश की ओर देखना
कापुरुष अमृत-संतान मैं
रोया हूं युगों से युगों तक।

बस इतने में
हिलकर उलट जाती है रात फिर एक बार
किस एकांत अनजाने स्वर से
फिर से डूब मरती है सत्ता मेरी
नई शब्दहीनता के अथाह जल में।

मत पूछो मुझसे
क्या है सुबह की प्रार्थना
या सांझ की विदाई और स्तुति
मत पूछो
बसंत, आम्रमंजरी और कोयल
फिर से आ पहुंचे या नहीं
हमारी निरंतरता का उद्घोष
फिर एक बार चैती हवा में
होता है या नहीं।

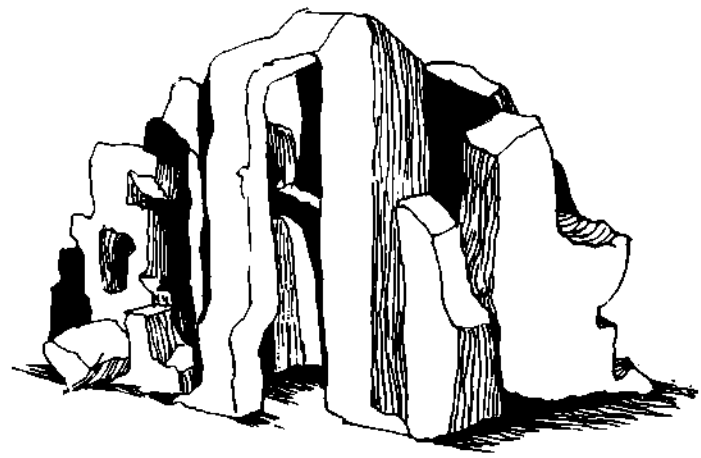
मत पूछो मुझसे, प्रिय मित्र
दुःख का रंग है कैसा, लोहे का स्वर है क्या
यंत्रणा का स्थापत्य है कैसा
कितने युगों, कितने मन्वंतरों से
सो रहे हैं मेरी हड्डियों में
सारे क्षोभ, सारे विषाद।

●

गांव का आपेरा

निर्वासित रानी, नन्हा राजकुमार
हैं जंगल में।
सेनापति के षड़यंत्र से
हो चुकी है हत्या राजा की
गांव के लोगों की आंखों में है गहरा विषाद
पर रानी को पेट्रोमैक्स की ओर ताकते हुए
अपने दुर्भाग्य और घने अंधेरे को
संबोधित करते देख
अगली पंक्ति में बैठे हम बेवकूफ बच्चे
खिलखिलाकर हंस पड़े
कान उमेठे गए थे हमारे।
एक युग बीत गया तबसे
पर अब समझ चुका हूं
भाग्य उजाले की ओर ताकने पर भी
अंधेरा देखने में ही सार है
भाग्य है एक दुःस्वप्न
कोमल सपने में देखे
रक्तपात, षड़यंत्र और ईर्ष्या का
भाग्य है मुखौटा लगाए नाच देखना
विध्वस्त, छिन्न-भिन्न वर्तमान का।

●



रेखांकन : रामबली

आशा है उस आदमी को

आशा है उसे
शब्द एक न एक दिन
छाया बन जाएगा
पथिकों के लिए।

शब्द शिला-सा, पेड़-सा
मूक स्वर में
सबको कह पाता कुछ।

कह पाता
यह रुधिर चर्म और अस्थि का
माया-मोह ही आत्मा है
इस माटी का धूल-खेल ही है
अद्वैत ब्रह्म
यह फूलों की सुगंध
गीली मिट्टी की महक ही निर्वाण।

और स्वर्ग
देखो, देखो किस तरह दमक रहा है
अवाक् विस्मय से
नन्हे बुलबुले की आंखों में।

●

प्रस्तुति : राजेंद्र मिश्र

एक अच्छा दोस्त

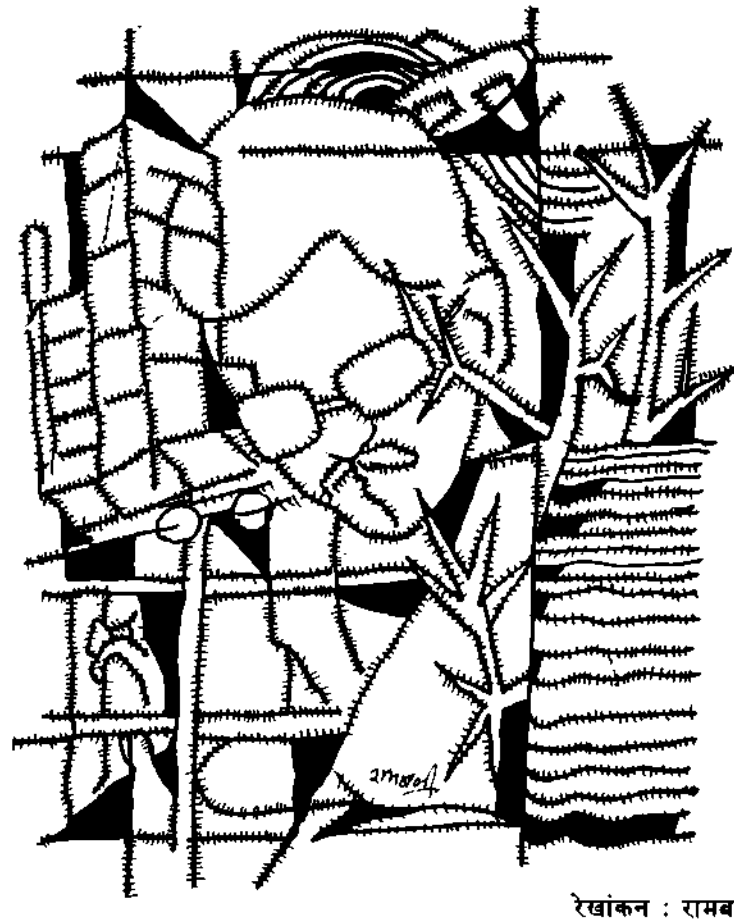
ज्ञान प्रकाश विवेक

वह मेरा पुराना दोस्त था। इतना पुराना कि बोलचाल भी बंद हो गई थी। ट्रेन में या बस में हम मिलते, नजरें मिलतीं, लेकिन हमारे हाथ कभी न मिलते। हम महानगर में रिश्तों की मौत के चश्मदीद गवाह होते हैं और हमें कुछ भी नहीं होता। हम रिश्तों को मरता देखते हैं, उन्हें संवेदना की आक्सीजन से जीवित करने की कोशिश नहीं करते।

एक दिन मैं बस में खड़ा था। मेरे पुराने दोस्त बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाया। सीट शेयर की। इस अडजस्टमेंट ने मुझे बहुत राहत दी। मेरे पास काफी सामान था। चार वीडियो कैसेट थीं जो मैं दिल्ली से ले आया था—वी.सी.आर. पर फिल्म देखने के लिए। मेरे पुराने दोस्त ने कैसेट लीं। उलट-पुलट कर देखीं। बिना किसी उत्सुकता के लौटा दीं।

मैंने सोचा था, वह वीडियो कैसेटों पर बात करेगा। इधर मैंने बहुत सारी नई फिल्में देखी थीं—सब वीडियो पर। हिंसक, रोमेंटिक, अंग्रेजी, हिंदी, वयस्कों वाली और कुछ ऐसी भी जो बंद कमरों में देखी जाती हैं। वह बातचीत का सिलसिला चलाता तो मैं अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता। एक-एक फिल्म के बारे में बताता। फिल्म, कहानी, गाने तो एक ओर, मुझे तो विज्ञापन तक याद हो गए थे।

लेकिन पुराना दोस्त अजीब था या फिर दकियानूसी जो ऐसी आधुनिक चीज पर बातचीत नहीं कर रहा था। मैंने जानबूझ कर उसे बौना सिद्ध करते हुए पूछा—"शायद आपके घर वीडियो नहीं है।"



रेखांकन : रामबली

वह मुस्कुराते हुए बोला—"नहीं।"

इसमें मुस्कुराने की क्या बात थी, मैंने मन ही मन सोचा। मैं उससे चिढ़ने लगा था। लेकिन वह सहज था। यही बात मुझे और भी ज्यादा चिढ़ा रही थी। मैंने सोचा, इस कंगाल को अपनी हैसियत की थोड़ी जानकारी दे देनी चाहिए। इसी लिहाज से मैंने कहा—"कभी आप मेरे घर आएं। मेरे पास अपनी वीडियो लाइब्रेरी है। कम से कम डेढ़ सौ वीडियो कैसेट हैं—अंग्रेजी, हिंदी सब तरह की। मेरे पास सोनी का वी.सी.आर. है और कलर टी.वी. भी सोनी का। सोनी के टी.वी. पर जो फिल्म आती है, उसकी शान ही कुछ और है। ऐसा लगता है हम पहाड़ों के सीन नहीं देख रहे बल्कि पहाड़ों की सैर कर रहे हैं। पहाड़ों के भीतर हैं।"

मैं चुप हुआ तो वह तुरंत बोला—"उत्तरकाशी भी पहाड़ों में है। वहां के बेघर लोग भी पहाड़ों में हैं। उनके सीन देखकर भी ऐसा लगा होगा जैसे आप उन लोगों के बीच में हैं। कैसा महसूस किया आपने?"

'इडियट!' मैंने मन ही मन दांत पीसे। मैं सोनी टी.वी. पर जो चित्र आते हैं उनके कलर की बात कर रहा था। जापानी टैक्नोलाजी कितनी सुपर है। मैं तो यह बताना चाहता था लेकिन यह साहब उत्तरकाशी में घसीटकर ले गए। मैंने समझाने वाले लहजे में कहा—"इंडिया के कलर टी.वी. और जापानी टी.वी. में कितना फर्क है, मैं तो यह बताना चाहता था।"

"पहाड़ के खूबसूरत दृश्य और पहाड़ के दर्द में कितना फर्क है उसे भी कभी आप महसूस करके देखिए।" पुराने दोस्त ने कहा।

मैं चुप रहा। चुप रहने में ही बेहतरी थी। मुमकिन था, हम बहस में उलझ जाते और अपने भीतर तल्ख माहौल उतार लेते।

बस चलती रही। हमारी बातचीत भी चलती रही। हम दोनों ने एक-दूसरे से कामकाज का पूछा, घर के पते पूछे, लिखे, आने का वादा किया। बस से उतरकर हम अपने-अपने घरों को रवाना हो गए।

बहुत सारे दिन गुजर गए। कैलेंडर ने तारीखें बदलीं। परिंदों ने परवाज। समुद्र ने लहरें बदलीं। घड़ी ने टिकटिक। दिनों ने लिबास बदले, हवाओं ने रुख।

वर्तमान अतीत में बदलता रहा और अतीत यादों को धुंधलाता रहा। मैं अपनी दिनचर्या में व्यस्त रहा। दफ्तर जाना, वापस आकर टी.वी. सीरियल, फिर वीडियो फिल्म। शनि-इतवार छुट्टी के दिन और इन दिनों में बहुत सारी फिल्में वीडियो पर देखना।

वह एक रविवार था। कुनकुनी धूप थी। फरवरी के आखिरी दिन थे। हवा चल रही थी। दरख्तों से पत्ते गिर रहे थे। यह तो मौसम का एक अंदाज था। लेकिन मुझे मौसम से कोई सरोकार था न प्रकृति से। मैं अपने बड़े कमरे में बैठा था—वीडियो पर फिल्म देखता हुआ।

दरवाजे का कालबेल का बटन था। लेकिन खराब था। दस्तक हुई। हल्की-सी हुई होगी। मैं नहीं सुन पाया था। फिर दस्तक हुई। तीसरी बार कुछ ज्यादा तेज जैसे हाथों की उंगलियां अपना गुस्सा उतार रही हों।

मैं फिल्म देखने में मग्न था। दस्तक सुनकर मैंने बुरा-सा मुंह बनाया। "कौन आ टपका।" मैंने झल्लाते हुए दरवाजा खोला।

वही पुराना दोस्त जो कुछ दिन पहले बस में मिला था, सामने खड़ा था। मुस्कुराते हुए बोला—"यार, बड़े मस्त होकर बैठते हो घर में।"

"ओह आप!" मेरे मुंह से अचानक निकला। फिर कुछ रुककर मैंने कहा—"आइए।"

दोस्त भीतर आते-आते ठिठका। कुछ सोचते हुए बोला—"मैं शायद गलत वक्त पर आ गया।"

"नहीं नहीं, ऐसा क्यों सोचा आपने?" मैंने दोस्त के कंधे पर हाथ रखते हुए कहा। दोस्त यकीनन समझदार था। मेरे चेहरे को देखकर भांप गया था कि मेरे भीतर क्या है। मैंने वी.सी.आर. पर फिल्म लगा रखी थी। फिल्म देखते हुए किसी का बोलना भी खराब लगता है। मैं बड़े मनोयोग से फिल्म देखता हूं। ऐसे में दोस्त का आना यकीनन मेरे लिए दखलंदाजी थी। मैंने यह बात कही नहीं थी। लेकिन उसने महसूस कर ली थी। अंग्रेजी में एक मुहावरा है—फेस इज दि इंडेक्स आफ हार्ट। शायद मेरे दिल में जो था, वह चेहरे पर एक इबारत की तरह उतर आया था।

दोस्त सोफे पर बैठ गया था। चाय के दो कप मेज पर थे। सामने टी.वी. था। कलर टी.वी.। वी.सी.आर. पर फिल्म थी—रोमांचक। मैंने एक टुकड़ा दृष्टि दोस्त पर डाली। चाय पीने के लिए कहा। खुद चाय का कप उठाकर फिल्म में डूब गया। मेरा चेहरा तना हुआ था—ऐन टी.वी. के सामने। टी.वी. और मेरे बीच दोस्त था। वह चुप था। वह बहुत देर से चुप था। चुप रहना उसकी मजबूरी थी। फिल्म देखना मेरी आदत। मैं चाहता तो वी.सी.आर. बंद करके दोस्त के साथ बैठ सकता था। कुछ देर गप्पबाजी कर सकता था। लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया था। मुझे डर था, अगर मैं वी.सी.आर. बंद करूंगा तो दोस्त ज्यादा देर तक बैठा रहेगा। टाइम बर्बाद करेगा। फिल्म का जो रोमांच है वह रेत-रेत होता रहेगा।

फिल्म चल रही थी। चाय की चुस्कियों की आवाजें थीं या फिर फिल्म के भीतर पात्रों के संवाद और संगीत।

दोस्त चाय पी चुकने के बाद कमरे की छत और दीवारों की ओर देखने लगा।

जाहिर था, वह ऊबने लगा था। मैंने उसे फिल्म देखने के लिए कहा तो वह बोला—"मैं फिल्में नहीं देखता। कोई क्लासिक फिल्म हो तो बात दूसरी है।"

मैं उससे बहस में नहीं उलझना चाहता था। इसलिए चुप रहा। बहस में उलझने का मतलब था—फिल्म का सत्यानाश।

"कोई किताब-विताब होगी तुम्हारे पास?" दोस्त ने पूछा।

"किताब का क्या अचार डालना है? स्कूल और कालेज में किताबें ही तो पढ़ते रहे। अब थोड़ी राहत मिली है।... अब .... मेरा मतलब है यह दौर सूचनाओं का है। सूचना क्रांति का। वह हमें दूरदर्शन, वीडियो-मैगजीन से हासिल होती है।"

मेरी बात सुनकर दोस्त तनिक हंसा। वह हंसी मालूम नहीं, मेरी बात पर थी या मुझे चिढ़ाने के लिए।

वह करीब चालीस मिनट बैठा। चालीस मिनट में हमने चार-पांच बातें कीं। उसमें और मुझमें एक फर्क था—बुनियादी फर्क। वह खुलकर बतियाने आया था और मैं बिल्कुल नहीं बतियाना चाहता था।

दीर्घ श्वास लेकर वह उठ खड़ा हुआ। हंसते हुए बोला—"यार, मैं तो आज देर तक तुम्हारे साथ बैठने का सोचकर आया था। पर तुम तो फिल्म देख रहे हो। मैं भी बोर होता रहूंगा और तुम भी। चलता हूं। तुम आना कभी मेरे घर। फुरसत में बैठेंगे।.... अगले इतवार को ही आ जाओ।"

मैंने जल्दी से हाथ मिलाए। "अच्छा-अच्छा जरूर आऊंगा" कहकर मैंने निजात पाने की कोशिश की। दोस्त चला गया। मैं पुनः अपने कमरे में लौट आया।

वी.सी.आर. को मैंने थोड़ा-सा रिवर्स किया। छूट गई फिल्म को देखने लगा। मुझे लगा, मेरे चेहरे पर तनाव-सा उग आया है।

यही दोस्त जब पंद्रह-बीस साल पहले मेरे घर आता था तब मुझे कोई तनाव महसूस नहीं होता था। हम छत पर जा बैठते। देर तक बतियाते। मूंगफलियां खाते, चने खाते या गन्ने चूसते। एक अनौपचारिक माहौल-सा बना लेते थे हम दोनों। हम ठहाके लगाते तो हवा चौंककर हमें देखती।

हवा अब भी चौंककर देखती रही थी, जब वही दोस्त बिना हंसे विदा हो गया था। और तो और, हवा ने मुझे भी चौंककर देखा था कि दोस्त के आने पर मैं तनावग्रस्त क्यों हो गया हूं?

जिस संडे को दोस्त ने बुलाया था, मैं उस दिन उसके घर नहीं जा पाया था। उस संडे के बाद एक गजेटेड छुट्टी थी। मैं बाजार निकला था। वही दोस्त अचानक मिल गया। उसने उलाहना दिया कि वह रविवार को मेरा इंतजार करता रहा। मैंने बहाना ठोक दिया कि मेहमान आ गए थे। उसने हंसते हुए कहा—"अगर तुम्हारे मेहमान वीडियो प्रेमी नहीं थे तो खूब बोर हुए होंगे।"

दोस्त की बात में छिपे पैनेपन को मैंने महसूस नहीं किया था। महसूस करता तो दिल नाम की चीज चीरती हुई प्रतीत होती।

मैं चलने को हुआ तो दोस्त ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—"आज तो मेरे घर चलना ही पड़ेगा।" इससे पहले कि मैं कोई बहाना बनाता, वह लगभग खींचते हुए मुझे गली में ले गया।

मैं उसके घर में था। या यूं कहूं कि एक घर उसने मेरे सामने परोस दिया था। अभी मैं बैठा ही था कि वह बोला—"चलो, छत पर चलकर बैठते हैं। धूप को देखेंगे।"

मैंने हंसकर कहा—"धूप भी देखने की चीज होती है क्या?"

"होती तो है। खैर, तुम धूप मत देखना। आसमान देखना। सर्दियों में सुबह का आसमान बहुत नीला होता है। और एक अच्छी बात यह भी है कि हमारी छत की जो मुंडेर है न, वहां बहुत सारी चिड़ियां आकर बैठती हैं। पूरी पंचायत लगती है चिड़ियों की।"

हम छत पर आकर बैठ गए थे। वह चाय बना लाया था। फिर भुजिया ले आया। भुजिया के बाद बिस्कुट। बिस्कुट रखते हुए बोला—"घर गया था। मां ने दे दिए। पता है, हम दोनों आटे वाले बिस्कुट कितने चाव से खाया करते थे। लगता है, तुम्हें कुछ याद नहीं।"

मुझे सब याद था। लेकिन मैं याद रखना नहीं चाहता था। कौन अतीत के फटे-पुराने लिबास को गले से लगाए फिरे? मिलता क्या है? निकम्मे लोगों का शगल होता है गुज़शता वक्त की एलबम खोलकर बैठना।

चाय पी चुकने के बाद उसने पूछा—"बिस्कुट अच्छे हैं न! मां ने बेकरी से बनवा कर दिए थे। बाजारी बिस्कुटों से तो मुझे ये बिस्कुट अच्छे लगते हैं।"

"लेकिन इनकी शक्ल अच्छी नहीं।" मैंने कहा तो वह अकबकाकर मुझे देखता रह गया। फिर बोला—"अगर हमारी जिंदगी की शक्ल अच्छी न हो तो क्या हम उसे फेंक देंगे?"

मैं चुप रहा तो वह रुककर फिर बोला—"इन बिस्कुटों में और कुछ न हो, मेरी मां की भावनाएं तो हैं।"

"यार, मैंने तो मजाक किया था।" बात को खत्म करने के लिहाज से मैंने कहा।

वह हंसते हुए बोला—"बिस्कुट तो छोटे-से होते हैं लेकिन हमने उन पर चर्चा लंबी कर डाली।"

उसकी बात पर मैं भी हंसा। अचानक मुझे लगा, धूप तेज हो गई है। मैंने दोस्त से कहा तो वह बोला—"ठीक है, नीचे चलते हैं। मैं अपनी लाइब्रेरी तुम्हें दिखाता हूं।"

"वीडियो लाइब्रेरी?" मैंने चहककर पूछा। मेरी आंखें चमक उठी थीं।

"नहीं, किताबों की लाइब्रेरी।" दोस्त ने संतुलित-सा उत्तर दिया।

"चलो!" मैंने मन मारकर कहा।

मेरी किताबों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। फिर भी मैंने सोचा, अलमारी में पडी किताबों पर एक झलक डाल दूंगा। दोस्त को अखरेगा नहीं।

"इतनी सारी किताबें?" मैंने अलमारियों में लगी किताबों पर नजर डालते हुए कहा। मैंने तो समझा था, सौ-पचास किताबें होंगी। लेकिन दोस्त के पास तो अच्छी-खासी संख्या थी किताबों की।

"ये सब मैंने खरीदी हैं और ज्यादातर पढ़ भी चुका हूं।" दोस्त ने गर्व से कहा।

"कैसे अफोर्ड कर लेते हो। किताबें तो बहुत मंहगी हो गई हैं?" मैंने सवाल किया। वह तनिक मुस्कुरा कर बोला—"वीडियो कैसेट से फिर भी सस्ती पड़ती हैं किताब।"

"क्या....?"

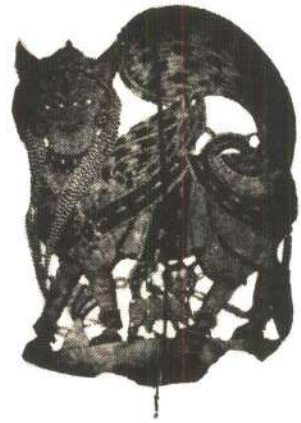
"हां! मेरे पास बहुत अच्छी किताबें हैं। बहुत सारे क्लासिक जो मैंने दरियागंज में पटड़ी से खरीदे हैं। तुम्हें शायद पता नहीं, संडे को दरियागंज की पटड़ी पर पुरानी किताबें बिकती हैं।....गोर्की, टालस्टाय, चेखोव, जान रीड और लू शुन की किताबें तो मैंने पी.पी.एच. से खरीदीं।"

मैं बोर होने लगा था, कुछ-कुछ आतंकित भी। मुझे लगा, यह अपनी लाइब्रेरी का पूरा इतिहास-भूगोल समझाकर दम लेगा।

उसने दोस्तोयेवस्की की 'क्राइम एंड पनिशमेंट' उठाकर कहा—"यार, यह शख्स तो मुझे खुद एक दर्द की लंबी कविता महसूस होता है। दस वर्ष तक निर्वासन! टूटना-बिखरना। जिंदगी जैसे पतझड़ के पत्तों की तरह उड़ रही हो—नाबीना पत्तों की तरह!"

उसने किताब रखी फिर एक और किताब उठाई। किताब को खोलते हुए वह किसी याद को बटोरने लगा—"यह किताब मुझे मेरे पापा ने प्रेजेंट की थी। मुक्तिबोध भी जीवित नहीं। पापा भी मर चुके हैं। लेकिन यह किताब तो जिंदा है। इसका तो हर शब्द जीवित है, जीवित रहेगा। मैं जब-जब उदास होता हूं तो मुक्तिबोध की कविता

(पृष्ठ 53 पर जारी)



पुतली के रंग-रूप

संजीव आनंद

जन संप्रेषण के जितने भी माध्यम हैं उनमें पुतली का स्थान बड़ा ही अनोखा माना गया है। यह अनोखा इसलिए है कि यह कला अन्य सभी कलाओं से कुछ खासी ही भिन्न है। इसका प्रभाव अधिक संवेद्य होता है, जो शीघ्रता से अपना प्रभाव, पूरी तीक्ष्णता के साथ जन समाज की मानसिकता पर छोड़ता है। इसका लक्ष्य केवल मनोरंजन करना या मानव मन को गुदगुदाना भर ही नहीं होता बल्कि अपनी टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों व रंग-बिरंगी रेखाओं के द्वारा मनुष्यों के चित्त पर अनुरंजकता को बनाए रखते हुए, सामाजिक-सांस्कृतिक संदेशों को प्रसारित करना भी होता है। यह कला भारतीय समाज में, विशेष रूप से लोकप्रिय है। इसकी लोकप्रियता का खास कारण इसका रूढ़ अवधारणाओं पर आधारित होना है। साथ ही यह कला औसत स्तर पर समान रूप से संप्रेषण-प्रसार का कार्य करती है। इसके अलावा सुदीर्घ ऐतिहासिकता के कारण भी समाज के मानस पर इसका स्थायी और लोकरंजक प्रभाव है। लोकरुचि, परंपरा, अंधविश्वास, चित्तवृत्ति आदि का अनुकरण या कटाक्ष ही इसके मूल वर्ण्य विषय हैं। शायद यही कारण है कि इसकी लोकप्रियता युगों-युगों से बनी हुई है। चूंकि ये सारे वर्ण्य-विषय मानव सभ्यता के आदि मूल में हैं और उत्तर आधुनिक युग के आगे के युगों तक भी संभाव्य हैं, इसलिए भले ही कितने भी अति यांत्रिक मनोरंजन के साधन विकसित हो जाएं, इसका लोप संभव नहीं। यह भारतीय लोक-कला का पारंपरिक धरोहर है। इसमें भारतीय समाज के सभी रूप आसानी से देखे जा सकते हैं। हालांकि विद्वानों में इसकी उत्पत्ति और विकास को लेकर बहस होती रही है मगर विद्वानों का एक बड़ा दल इसका जन्म भारतवर्ष में ही मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि भारत से ही इस कला का विस्तार अन्य एशियाई देशों में हुआ।

पश्चिम के विद्वान रिचार्ड पिरौल ने तो सन् 1902 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *द होम आफ द पपेट प्ले* में यह स्वीकार किया है कि 'निस्संदेह यह घटना सिर्फ भारत की ही है।' पिरौल के इस कथन का यद्यपि अनेक विद्वानों ने विरोध किया और कहा कि यह भारत में उत्पन्न न होकर चीन, ग्रीस या इटली में उत्पन्न हुई होगी। पर इसके पक्ष में वे कोई तर्क नहीं प्रस्तुत कर पाए। यह सही है कि चीन, इटली आदि देशों की सभ्यता भारत की तरह ही अति प्राचीन है, मगर यह निर्विवाद रूप से मान लिया गया है कि पुतली का उद्गम स्थल भारत ही है।

इसका जन्म भारत में होने पर संदेह का एक कारण आचार्य भरतमुनि रहे हैं। उल्लेखनीय है कि भरत ने अपने *नाट्यशास्त्र*, जो कि विभिन्न कलाओं के उद्गम बिंदु के ज्ञान के मूल स्रोत के रूप में विख्यात है, में पुतली कला के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया है। दूसरी तरफ पुतली का जन्म भारत में मानने वाले विद्वानों का यह तर्क था कि चूंकि यह एक लोक कला के रूप में है, इसमें कलाकार की मूल दृष्टि रस-सृष्टि न होकर चमत्कार और मनोरंजन पर आधारित होती है, इसलिए संभव है, भरत ने इसे सामान्य कोटि का लोकधर्मी नाटक मानकर उल्लेख करना आवश्यक न समझा हो। दूसरा कारण यह भी है कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में मानव अभिनीत विभिन्न कलाओं का जिक्र किया है मगर पुतली में तो निर्जीव व काष्ठ पुत्तलिकाओं को उपयोग में लाया जाता है। इन



विद्वानों ने यह भी कहा कि भारत में ईसा से चार शताब्दी पूर्व जहां 'मानव थिएटर' मिलता है इसलिए यह संभव है कि पुतुल कला से ही 'मानव थिएटर' की परिकल्पना हुई होगी।

इन तर्क-वितर्कों के बावजूद भारत के धार्मिक-साहित्यिक ग्रंथों में इसका मूल स्रोत देखने को मिलता है। महाभारत में तो एक स्थल पर 'सूत्रप्रोत' लकड़ी की पुतलियों का जिक्र आया है। विराट-कन्या उत्तरा ने अपनी पुतलियों के विविध रंग के सुंदर वस्त्र वृहन्नला (अर्जुन) से मंगवाए थे जिसे वृहन्नला ने कौरव-सेना को पराजित करके हासिल किया था। सोमदेव के *कथा सरितसागर* (ग्यारहवीं शती) में शिल्पी मयासुर की पुत्री सोमप्रभा द्वारा अपनी सखी राजकुमारी कलिंगसेना को पितृनिर्मित यांत्रिक पुतलियों की मंजूषा दिए जाने की चर्चा आती है। इसमें एक ऐसी खूंटी का उल्लेख है, जिसे छूते ही पुतलियां अनेक प्रकार के कार्य करने लग जाती हैं। मसलन, उड़कर पुष्पयान या जल ले आती हैं या नाचने-बोलने लगती हैं। राजशेखर (दसवीं शताब्दी) ने अपनी *बालरामायण* के पांचवें अंक में बताया है कि मयासुर के शिष्य ने सीता और उसकी बहन सिंदूरिका की पुतलियां बना कर मंच पर अवतरित की थीं जिसमें सीता की पुतली इतनी सजीव प्रतीत हो रही थी कि रावण ने उसका आलिंगन कर लिया था। इसके अतिरिक्त *सिंहासन बतीसी* में भी बत्तीस यांत्रिक पुतलियों की चर्चा की गई है जो राजा भोज विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी थीं। इनमें से प्रत्येक पुतली भोज की न्यायप्रियता, कीर्ति आदि के संबंध की कहानी कह कर आकाश में उड़ जाती थी। इन साक्ष्यों से भी प्रमाणित हो जाता है कि पुतुल-कला का उद्‌गम स्थल भारत के अलावा दूसरा देश नहीं है। मंचपरक विभिन्नता और पारंपरिक बहुलता इसकी स्वस्थ और निरपेक्ष छवि का निर्माण करती है और प्रादेशिक स्तर पर पृथक-पृथक भौगोलिक और सांस्कृतिक रूपों को प्रखरता प्रदान करती है। इन्हीं प्रादेशिक विभिन्नताओं के कारण पुतली कला का रंगरूप भी सभी प्रदेशों में अलग-अलग प्रकार का है। खासकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत में इसके रूप और प्रस्तुति में विशेष अंतर दीखता है। उत्तर भारत में जहां यह परंपराओं के साथ-साथ सामाजिक रीति-रिवाजों पर आधारित है, वहीं दक्षिण भारत में यह केवल धार्मिक मान्यताओं पर ही प्रचलित है। विशेष तौर पर रामायण, महाभारत के पात्रों और कथाओं पर आधारित होना इसकी परंपरा है।

उत्तर भारत में पुतली कला का बृहत-स्वरूप मुख्यतः राजस्थान, महाराष्ट्र, बिहार और उत्तर प्रदेश में मिलता है। राजस्थान में यह 'कठपुतली' का तमाशा के रूप में जाना जाता है। वहां इसकी शुरुआत अट्‌ठारहवीं शती के अंत में अमर सिंह राठौड़ के समय से मानी जाती है। अमर सिंह राठौड़ मुगल बादशाह शाहजहां के विश्वासपात्र दरबारी थे। यहां की कठपुतलियां बहुत हल्की और छोटे आकार की होती हैं। गोल चपटे चेहरे, लंबी-मोटी आंखें, उभरे ऊंचे कान, फूले हुए नथुने, लटके खुले होंठ तथा चपटी-चौड़ी कनपटी राजस्थान की कठपुतलियों की खास पहचान है। इसके वर्ण्य-विषय ऐतिहासिक होते हैं, जिनमें अमर सिंह राठौड़ का शौर्य गान ज्यादा होता है।

महाराष्ट्र में तेरहवीं शती से सत्रहवीं शती तक कठपुतली का खेल और छायानाटक प्रचलित रहे हैं। यह छायानाटक अपनी प्रस्तुतियों में पुतलियों के खेल से मिलता-जुलता है। *ज्ञानेश्वरी* में 'साइखड़े' नाम से उल्लिखित है। 'साइखड़े' में 'साई' का अर्थ छाया और 'खड़े' का अर्थ पुतली है। कहा जाता है, मराठी नाटक के आदि कर्ता-धर्ता विष्णुदास भावे रंगभूमि पर उतरने से पूर्व यांत्रिक कठपुतलियों का खेल दिखलाया करते थे। यहां के कठपुतली के खेल को 'चमपुरी' कहते हैं। यह चमपुरी का खेल प्रायः गणेशोत्सव के समय पूर्णिमा से प्रारंभ है। यहां की पुतलियों को शिरोभूषण पहनाया जाता है। साथ ही गले में कांच की मणियों की मालाएं भी पहनाई जाती हैं। इनके वर्ण्य-विषय ज्यादातर पौराणिक होते हैं, जिनमें शिव-पार्वती, मार्कंडेय-कथा, वत्सलाहरण, सीताहरण, द्रौपदी-स्वयंवर आदि प्रमुख हैं।

महाराष्ट्र की ही तरह बिहार में भी कठपुतली के खेल को 'चमपुरी नाटक' कहा जाता है। लेकिन बिहार में 'चमपुरी नाटक' का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार का है। यहां इसे 'बैकुंठ दर्शन' नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि इस नाटक का संबंध मात्र बैकुंठ-दर्शन या हिंदू धर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक संबंधी कल्पना से है। इसमें 'जैसा कर्म वैसा फल' को रूपांकित किया जाता है। कहा जाता है, यह कला बिहार की मूलतः न होकर उत्तर प्रदेश की है। जहां के महाराज पंडित नामक व्यक्ति 'दि कर्मगत चमपुरी बैकुंठ प्रदर्शन नाटक मंडली' नाम से इस संस्था को चलाते थे। बाद में बिहार की कई नाटक मंडलियों ने यहां पर इसकी शिक्षा प्राप्त की।

उत्तर प्रदेश में कठपुतली के तमाशे में 'गुलाबो-सिताबो' का खेल अति लोकप्रिय है। गुलाबो-सिताबो का एक अपना इतिहास है। गुलाबो-सिताबो नाम की दोनों महिलाएं स्वभाव और जाति से बंजारा थीं। गांव-कस्बों में घूमना और दर्द भरे गीत गाना उसका पेशा था। इन्हीं दोनों को आधार बनाकर नाटक कंपनी विभिन्न मनोरंजक कार्यक्रम दिखाती रहती हैं। इनमें सौतिया डाह, आपसी मार-पीट विशेष है।

भारत के अलावा पुतुल-कला की समृद्ध परंपरा चीन, यूनान, मिस्र, ब्राजील, जापान, थाइलैंड, बर्मा, श्रीलंका, जावा आदि देशों में भी है। इन एशियाई देशों की पुतुल-कला की मूल वैचारिक अवधारणा भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही सुनिश्चित है। यह स्वाभाविक रूप से भी सिद्ध होता है कि इन एशियाई देशों के सांस्कृतिक परिदृश्यों पर भारत के हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म से संबंधित मान्यताओं का विशेष असर है। इन एशियाई देशों के अलावा यूरोप के रूमानिया, बलगेरिया, जर्मनी आदि देशों में भी पुतलियां पाई जाती हैं। मगर भारत के समान उनकी कोई दीर्घ परंपरा नहीं है। इसलिए वहां की पुतुल कला आख्यानपरक न होकर सामाजिक पारिवारिक यथार्थ और मनोवैज्ञानिक कला के रूप को ज्यादा अभिव्यक्त होती है। आधुनिकता इसके रंगों में होती है।

पुतली अपने रंग-रूप, प्रदेश, परंपरा और प्रस्तुति के अंतर के हिसाब से मुख्यतः चार प्रकार की होती है। एक–दास्तान पुतली,

दो–छड़ी पुतली, तीन–डोरी पुतली और चार–छाया पुतली। दास्तान पुतली को हाथ की उंगलियों और कलाइयों की सहायता से नचाया जाता है। इस पुतली के केवल सिर और हाथ होते हैं। उत्तर प्रदेश का गुलाबो-सिताबो का खेल इसी कोटि का है। छड़ी पुतली को डंडे से नचाया जाता है। इसका प्रचलन बंगाल और बिहार में विशेष है। यहां उल्लेखनीय है कि जहां अन्य प्रदेशों में पुतली के खेलों में परंपरा मुख्य विषय रहती है वहीं बंगाल के पुतल खेल में जन-संघर्ष का खेल पूरे गौरव के साथ दिखाया जाता है। डोरी पुतली के सारे अंग धागों से संबंधित रहते हैं। जिनके संचालन से नाना प्रकार की भंगिमाएं पैदा की जाती हैं। राजस्थान की पारंपरिक पुतली इन्हीं धागों से नचाई जाती हैं। इन तीनों के अतिरिक्त छाया-पुतली एक अति विशिष्ट प्रकार की पुतली समझी जाती है। इसे चर्म-पुतली भी कहते हैं क्योंकि इसे चमड़े से बनाया जाता है। भारत में यह चमड़ा सिर्फ हिरण का होता है। कारण कि हिरण का चमड़ा अधिक मुलायम होता है। पुतलीकार इसमें आसानी से रूप जड़ते हैं। यह छाया-पुतली विशेष रूप से दक्षिण भारत की परंपरा में पनपी और समृद्ध हुई है। कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु के साथ-साथ उड़ीसा और महाराष्ट्र में भी यह पाई जाती है। इस पुतली की भी मूल धारणा अन्य पुतलियों की ही तरह है, मगर इसके संचालन और प्रदर्शन में अंतर है। एक अंधेरे घर में इस छाया-पुतली का प्रभाव इसलिए भी अधिक आदर्शवादी माना गया है कि यह न तो पूरी तरह से नग्न होता है और न पूरी तरह से ढका होता है। वस्तु की प्रतिछाया ही इसमें यथार्थ का आभास कराती है। इस प्रतिछाया में रहस्यात्मकता बनी रहती है। जिस रहस्यात्मकता से मनुष्य के मन में तीक्ष्ण कुतूहलता जाग्रत होती है। दरअसल यह उथल-पुथल ही छाया पुतुल के प्रति और अधिक जिज्ञासा जगाती है।

पुतलियों में विशिष्ट इस छाया-पुतली को लेकर भी विद्वानों में कुछ मतभेद हुए हैं। खासकर इसके उद्‌गम स्थल को लेकर। विद्वानों ने इसका मूल 'छाया नाटक' से निकाला है। उनका यह भी मानना है कि यह छाया नाटक सभी नाटक विधाओं में सबसे पुराना है। इनमें से कुछ का मानना है कि यह भारत से ही शुरू हुआ था पर कुछ का मानना है कि यह चीन से शुरू हुआ। इसके अलावा कुछ ने तो इसे तुर्की और जावा आदि देशों से भी जोड़ा है। इन विद्वानों ने यह समय नौवीं शताब्दी बताया है। मगर उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि इससे पूर्व का तमिल में *सिलापादिकरम* नामक महाकाव्य मिलता है जो छाया-नाटक की शैली में लिखा गया था, जिसका समय ईसा पूर्व दो शताब्दी और ईसा के बाद पहली शताब्दी के बीच ठहराया गया है। इसके बाद संस्कृत में भी *महानरक* नामक छाया नाटक लिखकर खेला जा चुका था, जिसका समय आठवीं शताब्दी है। इसके अलावा *रामायण* और *महाभारत* में भी छाया खेलों का उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही भारत में जो छाया-पुतली के गढ़ माने जाते हैं, उनमें आंध्र प्रदेश का नाम प्रमुख है, यहां छाया-पुतली के संबंध में एक कथा प्रचलित है। कंवल पारा के राजा मूपिल नायर ने अधिक दिनों तक निःसंतान रहने के कारण गांव के मंदिर में चालीस फुट लंबा मंच बनवाया और मन्नत मांगी कि यदि उसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी, तो वह प्रत्येक साल इक्कीस दिनों तक इसी मंच पर चर्म-पुतलियों का खेल करवाएगा। यह इस बात का जीवंत प्रमाण है कि छाया-पुतली, जिसमें लोक-आस्था और धार्मिक विश्वास साथ-साथ घुले-मिले हैं, का जन्म भी भारत में हुआ।



पिछले दिनों नई दिल्ली के इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र की कला शाखा 'जनपद संपदा' द्वारा भारत सहित अनेक देशों की छाया-पुतलियों का प्रदर्शन आयोजित किया। ये पुतलियां संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली और म्यूजिक क्वाक आन पेरिस के सहयोग से संग्रहीत की गई थीं। इनमें के कुछ छाया-पुतली संस्थान की अपनी भी थीं। इस प्रदर्शनी में इंडोनेशिया, मलेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड, तुर्की, यूनान और चीन की पुतलियां शामिल थीं। भारतीय प्रदेशों में कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, केरल तथा उड़ीसा की छाया पुतलियां थीं। यद्यपि दक्षिण के प्रदेशों की सारी छाया पुतलियां *रामायण* और *महाभारत* की कथाओं और उपकथाओं से संबंधित थीं मगर कारीगरी के हिसाब से इनमें काफी अंतर था। कर्नाटक की पुतली की आंखें जहां गोल और सीधी थीं तथा उनकी भंगिमाएं कम घुमावदार थीं, वहीं आंध्र प्रदेश की पुतलियों की भंगिमाएं काफी घुमावदार और आपस में जुड़ावदार थीं। केरल के पुतल की कारीगरी अधिक बारीक थी तो उड़ीसा के पुतल की यह विशेषता ही रंगों का न होना है। इस संदर्भ में एक जानकारी है कि विदेशों में इंडोनेशिया, बाली, मलेशिया, कंबोडिया, थाईलैंड आदि में भी अधिकांश कहानियां और चरित्र *रामायण* और *महाभारत* को लेकर ही हैं, परंतु वहां की जातीय और सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण कथाओं, नामों और चरित्रों के नैन-नक्श, अंगों-उपांगों के स्वरूप, सजावट और रंगों में अंतर आ गया है। इसके अलावा ब्राजील में, जहां पुतल कला चार सौ साल पुरानी है, पुतली नृत्य के साथ पियानो, ड्रायगिक, टैक्बोरिन और ड्रम आदि पारंपरिक वाद्य बजाए जाते हैं। जर्मनी की पुतलियां खिलौनों जैसी लगती हैं। वियतनाम में इसे 'जल पुतुल थिएटर' कहा जाता है। क्योंकि इसका आयोजन तालाब में किया जाता है। इसमें पुतलियां पानी की सतह पर नाचती हैं। चीन में जहां के छाया-पुतल की परंपरा भारत के समान ही प्राचीन है, वहां ये गधे और बैल की खाल से बनाए जाते हैं। इनका आकार काफी छोटा होता है। इनका वर्ण्य विषय जीवन के विविध क्षेत्रों के साथ-साथ पौराणिक भी होता है। बारीक कारीगरी और तीखा सौंदर्य इसकी खास पहचान है।

यह पुतल का खेल जिसका कि एक लंबा इतिहास है तथा भारत सहित दुनिया के विभिन्न देशों में इसकी लंबी परंपरा है और इसका संबंध जीवन और संसार के रहस्यों से जुड़ा है, इसके बावजूद अनेक लोग इसे केवल बच्चों का खेल ही समझते रहे हैं। इसे शायद भ्रांतिपूर्ण विचार ही कहा जा सकता है। क्योंकि पुतली केवल मनोरंजन ही नहीं करती, बल्कि एक तरह जहां यह परंपराओं और रीति-रिवाजों को सही रूप में याद दिलाती है वहीं जरूरत पड़ने पर सामाजिक उद्देश्यों के रूप में भी इस्तेमाल में लाई जा सकती है। कहना न होगा कि कठपुतली जो कि हमारी सांस्कृतिक सच्चाइयों का एक ऐसा तीखा प्रतिबिंब है जिसे आज की अनेक विकृतियों और प्रदूषणों से बचाया जाना चाहिए। इस कला के रेशे-रेशे में जनोन्मुख सरोकारों का जो घुला-मिला संदेश है, उसका बौद्धिक स्तर पर अभिनंदन किया जाना आवश्यक है। ❑

जीने का अहसास

स्वानुभव के आधार पर **शांति मलिक** *का मानना है कि कैंसर से लड़ने में सबसे अधिक मदद स्वयं रोगी की मानसिकता व मनोबल करता है।*

सन 1988, दिसंबर का अंतिम सप्ताह—सर्दी की चरम सीमा के साथ मेरी प्रसन्नता भी चरम शिखर पर थी। इस शैक्षणिक सत्र में राजकीय महाविद्यालय झज्जर के विद्यार्थियों ने बड़े अनुशासनात्मक ढंग से गृह-परीक्षाएं दी थीं। प्राचार्य होने के नाते मुझे इस बात का परम संतोष था कि अब उनकी वार्षिक परीक्षाओं के फार्म समयबद्धता से विश्वविद्यालय भेजे जा सकेंगे। इन दिनों मेरे परिवार के सदस्यों का भी शुभ समागम हो रहा था—अर्थात संयोगवश हमारे तीनों बच्चे इन दिनों सपरिवार हमारे यहां थे। मेरी छोटी बेटी की एक वर्ष की प्यारी-सी गुड़िया अपनी मां की मेडिकल परीक्षाओं के कारण गत दो मास से मेरे पास थी। इस देवदूत में मेरा मन इतना रम गया था कि कवि सूरदास का वात्सल्य रस मेरे रोम-रोम से छलक पड़ता था। इसकी प्यारी मनमोहक छवि, खिलती भाव-भंगिमाएं, तोतली बातें, छोटे-छोटे कदमों से चलना तथा अन्य बाल-क्रीड़ाएं देखकर मैं प्रफुल्ल हो उठती। मुझे यह सब दैवी-शक्ति का प्रताप व चमत्कार लगता और मैं महाविद्यालय से लौटकर इसी में आनंदमग्न हो जाती।



लेखिका

22 दिसंबर की शाम को मैं कुछ अनिवार्य वस्तुएं खरीदने बाजार गई। लौटकर कपड़े बदलते समय बाईं छाती में मुझे कुछ सरसराहट का अहसास हुआ। कमरे से बाहर निकलकर मैंने चहकते हुए कहा—"देखो भई, इस नन्ही गुड़िया के वात्सल्य के प्रताप से अब मेरी छातियों में भी दूध उतर रहा है।" रात को सोने से पहले दोबारा वही अनुभूति हुई तो मेरा हाथ अनायास ही बाएं वक्षस्थल पर चला गया—वहां मुझे एक गांठ (अठन्नी साइज के आकार की) का अहसास हुआ। मैं पढ़ी-लिखी तो थी ही, दूरदर्शन पर भी इस अनिष्टकर एवं भयावह बीमारी के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था। मुझे अंदेशा होने में देर न लगी कि मुझे वक्ष का कैंसर है। उस रात मैंने इसका जिक्र किसी से नहीं किया—इस समय किसी को क्यों विभ्रम में डालूं—सुबह ही दिखाऊंगी। दूसरे दिन नाश्ते के बाद मैंने इस गांठ का जिक्र किया। मेरी डाक्टर बेटी ने तत्काल चैक किया और छाया की तरह मेरे साथ निरंतर बनी रही। रोहतक मेडिकल कालेज के प्रसिद्ध चिकित्सक केशवानी से उसी दिन फोन द्वारा संपर्क साधा गया। उन्होंने अगले ही दिन 24 दिसंबर को प्रातः दस बजे अस्पताल आने के निर्देश दिए। मेरे वहां पहुंचने के साथ ही शुरू हुई प्रक्रिया पर्यवेक्षण की—बीमारी के संभावित स्थलों—छाती, गर्दन आदि पर सुइयां चुभोने की (एफ.एन.ए.सी.) तथा विभिन्न रक्त जांचों की। बायप्सी रिपोर्ट में मैलेगनेंसी निकलने पर तत्काल आपरेशन का निर्णय लिया गया। 26 दिसंबर को वार्ड नंबर-7 में मुझे प्रविष्टि मिली। अगले ही दिन मेरा आपरेशन था—अतः उस दिन मेरे कई टैस्ट हुए तथा पूरी हिस्ट्री शीट तैयार हुई। अनैस्थीटिक दो बार आया—उसने भी पूरा विवरण लिखा।

कैंसर रोग की पुष्टि होने पर सभी सन्नाटे में आ गए। डाक्टर बच्चे आपस में बातें करते—मैं उनकी पूरी बात तो नहीं सुन पाती थी—किंतु उनके चेहरे पर उभरी संत्रास की रेखाएं व्याकुलता और डर के भाव—मुझे भली-भांति दृष्टिगम्य थे। इन दो दिनों में मैं सहज

भाव में रही। मुझे प्रभु पर अटूट आस्था रही है, अतः मैं मन को समझाती—'उस महाशक्ति को सभी से स्नेह है, मुझ पर तो उनकी सर्वदा अपार कृपा-दृष्टि रही है। अभी तो गांठ है—निकाल दी जाएगी।' मैंने इन दिनों में महाविद्यालय के वित्त संबंधी कई कार्य निपटाए तथा भवन निर्माण के विलंबित पड़े आवश्यक पत्रों के उत्तर लिखाए।

मंगलवार की सुबह साढ़े सात बजे ही जब मुझे गाऊन पहनाकर आपरेशन बैड पर लिटाकर ले जाया गया तो आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में मेरा प्रश्न था—"मैं स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट हूं। इस पर लेट कर क्यों जाऊं?" उन व्यक्तियों का उत्तर था कि आपरेशन थिएटर में गाऊन पहनाकर स्ट्रेचर पर ही ले जाया जाता है। अतः मुझे लेटना पड़ा। उस दिन की क्रमांक सूची में मेरा दूसरा नंबर था—इसीलिए पहले रोगी को अंदर ले जाया गया और मुझे आपरेशन थिएटर के तैयारी-कक्ष में रखा गया। यहां भी दवाइयां एवं इंजेक्शन देने तथा पर्यवेक्षण की अन्य प्रक्रियाएं बराबर चल रही थीं। लगभग साढ़े दस बजे मुझे आपरेशन थिएटर ले जाया गया। चलचित्रों में देखा गया। आपरेशन थिएटर आज दृष्टिगम्य था और उसमें मैं थी—सहज, स्थिर एवं प्रभु पर निर्भर। वहां मुझे हाथ की नस में इंजेक्शन लगने की पीड़ा का ही अहसास हुआ—उसके बाद का कुछ मालूम नहीं।

उस दिन की पूरी शाम एवं रात निद्रित अवस्था में रहने के बाद 28 दिसंबर की सुबह होश आने पर ही मैं जान पाई कि मेरी 'मेजर सर्जरी' हुई है और बड़ी सफल रही है। मेरी सारी छाती पर पट्टियां बंधी थीं। बाईं ओर से रक्तस्राव के लिए छोटा पाइप लगा था। इस समय मेरा रोम-रोम दर्द कर रहा था और मैं अत्यधिक व्याकुल और बेचैन थी—तभी डा. केशवानी अपनी टीम के साथ आए। समय पर किए गए आपरेशन की सफलता पर बधाई देते हुए उन्होंने मेरे मनोबल एवं सहयोग की प्रशंसा की। उनका कहना था कि मैंने एक श्रेष्ठ रोगी के रूप में आपरेशन से पूर्व उन्हें भरपूर योग प्रदान किया है। उन्होंने मेरी भली-भांति जांच की—दर्द निवारण तथा ताकत पाने के लिए गोलियां दीं, 'इन्फैक्शन' न हो—इसके लिए इंजेक्शन लिखे। पंद्रह दिन तक यही क्रम जारी रहा—डाक्टर साहब अपनी टीम के साथ आते—सामान्य जांच करते, बीच-बीच में पट्टियां खुलवाकर हीलिंग की प्रगति का जायजा लेते तथा तदनुसार उपचार में बदलाव निर्दिष्ट कर जाते।

दर्द शरीर को नोचता था और नींद नहीं आती थी। 'इंट्रावीनस' रक्त लेने व इंजेक्शन देते समय नसें न मिलतीं। बार-बार गोदा जाता—जिससे वे स्थान सूज जाते। छाती पर लगे टांके त्वचा को बीनते। 'लिंफ नोड्ज़' निकाल दिए जाने के कारण बाजू में बेहद दर्द होता। फिर आपरेशन के बाद जहां-जहां वैक्यूम हो गया था—वहां-वहां कई सुइयां एक साथ चुभतीं और मुझे जीने का गहन अर्थ अनुभूत करा जातीं।

इन पंद्रह दिनों में मैंने जीवन और मृत्यु को बड़े पास से देखा, भरपूर दर्द सहा और इसके निवारण हेतु प्रभु के नाम का संबल लेकर अंतर्लीन भी हुई। किंतु मेरा समय व्यतीत नहीं हो पाता था। समस्या रहती कि दर्द को कैसे फुसलाऊं तथा अपने चेतनशील मन को—जो 12 से 14 घंटे महाविद्यालय के विविध दायित्वों के संपादन में सक्रिय रहता था—इस बीमारी के बारे में सोच-सोच कर त्रास से भर उठती और प्रभु से प्रार्थना करती—'हे महाशक्ति! या तो मेरी बीमारी का समूल निवारण करो अथवा मुझे मृत्यु का वरदान दे दो। क्योंकि तिल-तिल कर मरना मुझे वरेण्य नहीं था। अपनी बातें कहने को मन होता—किंतु किससे अपनी बात, अपना दर्द कहूं? —अपनी बच्चियों से—जिनकी आंखें सूजी हुई एवं सहमी-सहमी होतीं। उनकी संत्रस्त आंखें देखकर तो मुझे भी भय सताने लगता—पता नहीं, मैं किस सीमा तक बीमार हूं? न जाने बीमारी ने मेरे अंदर कहां तक पैर पसार रखे हैं? पति से भी क्या बात करती, वह पहले ही कमजोर थे, अब लड़खड़ाने लगे थे। वह बीच-बीच में बिलख उठते तो उन्हें मैं सहज करने का प्रयास करती—मानो वह बीमार हों और मैं स्वस्थ हूं। मैंने भारी तनाव में रहते हुए मौन धारण कर लिया और जो भी आता, उसका मैं अपनी सहज स्वाभाविक मुस्कान से स्वागत करती।

इन दिनों आसपास की चीजों का गहरा असर मेरे मन पर होता था तथा उन मरीजों की कुशल-क्षेम जानने की मेरी जिज्ञासा बनी रहती। मैं अपने कमरे में आने वाले कर्मचारी से उनके बारे में पूछती। मेरी प्रार्थना रहती—'हे प्रभु! सभी को सुख दो, अपने प्राणियों के कष्टों का निवारण करो। जितना जीवन दो-सुखी जीवन दो। आहत घायल जीवन, प्रतिक्षण टूटते मरते रहना जीवन नहीं है।' इस प्रकार आपरेशन के बाद के अस्पताल में बिताए गए मेरे ये पंद्रह दिन जीने का अहसास पाते तथा जीवन के बारे में चिंतन-मनन करते बीते। सोलहवां दिन मेरे लिए कहर का दिन था। मुझे केवल यही बताया गया कि दवाई की एक डोज इंट्रावीनस देनी है। यह इंट्रावीनस कीमोथेरेपी थी। इसके लिए मैं मानसिक रूप से तैयार नहीं थी और न ही इस 'थेरेपी' की आवश्यकता का मुझे अहसास कराया गया था, अतः मैं भयभीत हो उठी। इसे लेते हुए मेरी छाती, कान तथा गला जल गए और मेरे मुंह से झाग निकलने लगी। इसके बाद मैं बेहोश हो गई। होश में आने पर मैंने देखा कि मेरे बिस्तर के पास श्वासप्रक्रिया जारी रखने का यंत्र (वैंटिलेटर) रखा हुआ था। तेजी से दवाई देने के कारण मेरी श्वास प्रक्रिया में व्यवधान आ गया था।

घर आकर मैंने स्वयं को स्थिर-शांत करने का भरपूर प्रयास किया। डाक्टर बच्चों तथा किताबों से इस बीमारी की जानकारी पाई। यहीं मैंने संकल्प किया कि जब बीमारी से जूझना ही है तो क्यों न बहादुरी से जूझा जाए? उन दिनों दूरदर्शन पर 'जीवन रेखा' धारावाहिक चल रहा था। इसमें कीमोथेरेपी लेने वाले कैंसर से ग्रस्त दो रोगी हैं—एक बच्चा, दूसरे सोलंकी। बच्चे में सहजता है—अतः वह कीमोथेरेपी सहज-सरल भाव से लेता है किंतु सोलंकी इसे नहीं लेते। उन्हें इसकी आवश्यकता का अहसास बार-बार कराया जाता है और जब वह इसके लिए तैयार होते हैं, उस समय बहुत देर हो चुकी होती है। अंत का यह दृश्य देखकर मेरा मनोबल फिर टूटता है—मैं फिर निराशा के चक्रव्यूह में धंस जाती हूं। पंद्रह वर्ष पूर्व इस रोग से ग्रस्त हुए हमारे परिचित व्यास (डीन कृषि विश्वविद्यालय, हिसार) का चेहरा मेरी आंखों के समक्ष उभर आता है। उन्हें गले का कैंसर था। मेरी

बेटियां उनकी बेटियों की सहपाठिन थीं। अतः उनकी कुशल-क्षेम पूछने गई तो उनके गले का छेद देखा था और देखा था उन्हें पीड़ा से तिल-तिलकर तड़पते हुए—उस समय अनायास ही मेरी आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी थी। अवसाद और निराशा का यह कोहरा मेरे मन-मस्तिष्क पर कई दिनों तक छाया रहा। इससे छुटकारा पाने के लिए मैंने पुणे जाने का विचार बनाया। सोचा—बेटा-बेटी दोनों ए.एफ.एम.सी. में डाक्टर हैं। फिर वहां की व्यवस्था और उपचार का बड़ा नाम है। मुझे बंबई के कैंसर इंस्टीट्यूट से भी तो चैक-अप कराना है। अतः जाने का निर्णय लेते ही हम दोनों (पति-पत्नी) फरवरी मास के तीसरे सप्ताह पुणे जा पहुंचे।

पुणे के कमान अस्पताल में सेवा का प्राणदान देने का वातावरण है। यहां के डाक्टर अपने विषय के विशेषज्ञ हैं। पुनः उनमें कर्तव्यबोधता और सद्भावना का जो भाव है—वह निस्संदेह प्रशंसनीय है। प्रत्येक डाक्टर ठीक आठ बजे अपने कमरे में होता है। हर रोगी की भली-भांति जांच करना, उसकी बीमारी सुनना तथा उसके मनोबल को उठाना—निस्संदेह देखते-सुनते बनता है। कहीं कोई दिखावा नहीं, जात-पांत नहीं, गरीब-अमीर का विभेद नहीं और किसी प्रभावशाली व्यक्ति को वरीयता नहीं।

दो महीने मैं पुणे रही और कई विभागों में आवश्यकतानुसार जाती रही। प्रत्येक बार इन विभागों में कार्यरत डाक्टरों ने मुझे प्रभावित किया। इनमें मुझे ऐसे सिपाही की, ऐसे योद्धा की झलक मिलती जो अपनी मेहनत, लगन एवं कर्तव्यबद्धता से रोगियों को प्राणदान देने हेतु कृतसंकल्प हैं।

मेरे जिज्ञासु एवं आतंकित मन को डा. संबंधन ने समझा और बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से निदान कार्य शुरू किया। वह सर्वप्रथम मुझे उस वार्ड में ले गए—जहां रोगी बड़े सहज भाव से 'कीमोथेरेपी' ले रहे थे। मैं आश्चर्यचकित थी कि जिस 'थेरेपी' ने मुझे मूर्च्छित अवस्था में पहुंचा दिया था—उसी को लेते हुए ये रोगी चहक रहे हैं और बीच में जलपान भी कर रहे हैं। नर्सें बड़ी व्यवस्था से उनका पर्यवेक्षण कर रही थीं। तदुपरांत उन्होंने 'कीमोथेरेपी' और 'रेडियोथेरेपी' का गुणावलोकन कराते हुए इसे लेने की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार मेरा भय हटाकर सहज भाव में लाकर ही मुझे 'थेरेपी' देने का समय निश्चित किया। दवाई धीरे-धीरे देना, सैलाइन वाटर में देना, नर्सों का बीच में कई बार आकर परीक्षण करना और चाय दे जाना, आदि से मेरी सारी घबराहट दूर हो गई और मैं पुनः सहज भाव में लौट आई। अब मेरा जीवन-बोध स्वस्थता पाने लगा—मेरी हंसी ही नहीं लौटी, मेरा मनोबल भी लौट आया। इस प्रकार 15-15 दिनों के अंतराल के बाद मैंने 'कीमोथेरेपी' के तीन सर्कल पूरे किए। शेष मैंने रोहतक मेडिकल कालेज से लिए। उस समय इस यूनिट के कर्तव्यनिष्ठ डाक्टर केशवानी सेवानिवृत्त हो चुके थे। यहां यह कार्य इंटर्न व रजिस्ट्रारों को सौंप दिया गया।

कीमोथेरेपी देने के प्रयत्न में नाड़ी ढूंढने के प्रयास में पुनः मुझे कई 'प्रिक्स' लगने लगे। 'थेरेपी' लगाकर कोई वारिस न होता था। किंतु इस समय मेरा मनोबल ऊंचा था और मैं जीवन जीने का अहसास पा चुकी थी। अतः मेरे लिए इतना ही पर्याप्त था कि खुराक की मात्रा एवं विधि उचित होनी चाहिए। किंतु सुबह 10 बजे से सायं 5 बजे तक थेरेपी लेते हुए मेरे मन में कई तरह के खयाल आते रहते। काश! कमान अस्पताल पुणे के डाक्टरों की सद्भावना, लगन, निष्ठा एवं अनुशासन के गुण इन डाक्टरों में भी होते, तो इन अस्पतालों में भी व्यवस्था होती—न रोगी तड़पते, न ही बीमारियों में बढ़ोतरी होती। मैं यहां प्रायः देखती थी कि डाक्टर आधा-अधूरा राउंड लेते हैं। फालो-अप में उनकी दिलचस्पी नहीं है। आपसी विचार-विमर्श का उनके पास समय नहीं है। शोधकार्य में भी वे रुचि नहीं रखते। उन्हें तो अपना काम जल्दी से जल्दी निपटाकर लौटने की चिंता रहती है। मैं सोचती, सरकारी अस्पतालों में व्यवस्था और सेवा-सुश्रुषा का वातावरण नहीं है। प्राइवेट क्लीनिक बड़े महंगे हैं। गरीब आदमी कहां अपना उपचार कराए? महंगाई की मार ने उन्हें बड़ी संख्या में सरकारी अस्पतालों में जहां-तहां बरामदों में तथा वार्डों के बाहर पड़े रहने को बाध्य किया हुआ है।

मेरी बीमारी को आज पांच वर्ष बीत चुके हैं। उस समय की और आज की मेडिकल कालेज रोहतक की—परिस्थितियों में बड़ा अंतर है। अब यहां कैंसर रोग के उपचार के लिए अलग विभाग है। यहां हर रोगी का उचित उपचार होता है। आज यह बीमारी असाध्य व भयावह भी नहीं रही है। मैंने इस बीमारी को भोगा है, इसमें जीवन जिया है—अतः मैं अपने अनुभवों के आधार पर विश्वासपूर्वक कह सकती हूं कि इस बीमारी में सर्वाधिक आवश्यकता दृढ़ मानसिकता व मनोबल की होती है। इसके उपचार के पूर्ण साधन भी आज आसानी से उपलब्ध हैं। यदि समय पर बीमारी का पता लग जाए और सही उपचार हो जाए तो रोगी इससे पूरी तरह मुक्ति पा जाता है। ❑

शीघ्र प्रकाश्य

आजकल की

अद्यतन (49 वर्षों की) **अनुक्रमणिका**

लेखकों, पत्रकारों व शोधार्थियों के लिए एक आवश्यक संदर्भ ग्रंथ।

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस

नई दिल्ली-110001

महाद्वीपों के आर-पार अश्वेत लेखन

प्रियदर्शन

अश्वेत हो, महिला हो या अल्पसंख्यक—हर संदर्भ में शोषितों के बीच कुछ चीजें एक-सी हैं

अश्वेत साहित्य, यानी हाशिए पर पड़े समाजों का साहित्य, उन लोगों का साहित्य जो नस्ल, रंग या जाति के आधार पर न सिर्फ हर तरह की प्राथमिकताओं से वंचित किए गए, बल्कि विभिन्न राजनीतिक-सामाजिक धरातलों पर उपेक्षा और शोषण के शिकार रहे। एशिया और अफ्रीका के श्रम और उनकी संपदा का सहारा लेकर जो गोरा साम्राज्यवाद दुनिया भर में छा गया उसने अपने प्रभुत्व और अपनी श्रेष्ठता के आवरण के साथ बाकी समाजों के जीवन-मूल्यों, सोच और पूरी सांस्कृतिक चेतना को विस्थापित किया। विस्थापन की यह प्रक्रिया एक ओर अमानवीय शोषण से जुड़ी रही और दूसरे छोर पर इसने अश्वेत समाजों को हीनता की एक ग्रंथि दी। लेकिन बीसवीं सदी में और खासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद नवस्वतंत्र एशिया और अफ्रीकी देशों में सांस्कृतिक अस्मिता की यह चेतना वहां लिखे जा रहे साहित्य की मार्फत बड़ी तेजी से अभिव्यक्त हुई। इस साहित्य में सदियों की तकलीफ और शोषण के खिलाफ गुस्सा तो था ही, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को पहचानने की कशमकश भी थी। अफ्रीका में, एशिया में, अमेरिका में और दुनिया के हर कोने में इस अश्वेत अस्मिता के पक्ष में लिखा जा रहा यह साहित्य अपनी स्थानिक विशिष्टताओं के साथ-साथ कई साम्य अहसासों का संवाहक है। रंगभेद, शोषण और गोरी श्रेष्ठता ग्रंथि के विरुद्ध एक विद्रोहात्मक स्वर, जिस में सदियों की तकलीफों के उदास रंग भी घुले-मिले हैं, इस साहित्य का मुख्य स्वर है।

इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि फरवरी के प्रथम सप्ताह में, 'महाद्वीपों के आर-पार का अश्वेत लेखन', विषय के साथ-साथ दलित साहित्य, महिला लेखन और विरोध के साहित्य को भी विषय बनाया गया। पूरी दुनिया में हाशिए पर पड़े वर्गों और लोगों के पक्ष में लिखे जा रहे साहित्य पर केंद्रित साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित यह दो दिवसीय संगोष्ठी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण रही।

सुकुमार अधीनकोड ने उद्घाटन भाषण करते हुए अफ्रीकी साहित्य से अपने प्रथम परिचय का उल्लेख किया। अश्वेत लेखन में व्याप्त ऊर्जस्विता और जीवंतता को भी रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा कि विभिन्न वर्गों और समाजों की वंचित पीड़ाएं तभी सच्चा स्तर पा सकती हैं जब उन्हीं वर्गों द्वारा लिखी जाएं। अफ्रीका अपने आप को अभिव्यक्त कर रहा है। उनका यह भी मानना था कि हम अपनी तकलीफों के साथ तभी न्याय कर सकते हैं जब उन्हें अपनी भाषा में लिखें।

उद्घाटन सत्र में ही प्रसिद्ध अफ्रीकी लेखक और कांगो के भूतपूर्व प्रधानमंत्री हेनरी लोपेस ने रंगभेद के विरुद्ध लेखन के माध्यम से चल रहे संघर्ष की चर्चा करते हुए फ्रेंच, पुर्तगाली या अंग्रेजी में लिखने की वजह यह बताई कि इसके माध्यम से ही अफ्रीकी देशों के परस्पर संवाद को संभव बनाया जा सकता है। उन्होंने कहा कि मैं फ्रेंच में अवश्य लिखता हूं, मगर उसमें अपने राष्ट्रीय आवेगों को ही व्यक्त करता हूं। हम लोग फ्रेंच में अपना जातीय रंग मिलाते हैं।

बंगला के लेखक मानवेंद्र वंद्योपाध्याय ने अपने वक्तव्य में कहा कि अफ्रीकी के बारे में हमारी राय ब्रिटिश शिक्षा की देन है। अंग्रेजों ने अफ्रीका की जो आदिम छवि बनाई है, उसे लेखकों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उन्होंने अंग्रेज प्रकाशकों द्वारा अफ्रीकी लेखकों की किताबों के साथ किए जा रहे बर्ताव का भी जिक्र किया और उद्धरणों के साथ बताया कि किस तरह ये प्रकाशक अफ्रीकी लेखकों और लेखन को पाठक के सामने रखते हैं। जहां तक अस्तित्व का प्रश्न है, इस सदी में लेखक होना कोई आसान काम नहीं है। असमिया लेखक और साहित्य अकादमी के पूर्व अध्यक्ष वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य ने अमेरिकी नीग्रो लेखकों द्वारा निभाई जा रही भूमिका का

उल्लेख किया और कहा कि अश्वेत लेखन को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है।

अश्वेत लेखन के सौंदर्यशास्त्रीय पक्ष पर केंद्रित दूसरे सत्र में प्रसिद्ध मलयाली लेखक के.ए. पणिक्कर ने महत्वपूर्ण आलेख पढ़ा। उन्होंने महाद्वीपों के आर-पार लिखे जा रहे दलित, लोक और अश्वेत साहित्य के अंतर्संबंधों पर विस्तार से प्रकाश डाला और कई समानताओं का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि पूरी दुनिया में लिखे जा रहे अश्वेत साहित्य में वाचिक प्रकृति और परंपरा की प्रबलता दिखती है। शास्त्रीय साहित्य कुछ अवसरों पर अपने दैनंदिन अनुभव का अविभाज्य हिस्सा है। उन्होंने दलित, लोक और अश्वेत साहित्य में शिल्प के खुलेपन को रेखांकित किया। पणिक्कर ने हर देश के भीतर विभिन्न सांस्कृतिक उपनिवेशों की चर्चा की जो जनजातीय हैं, वे ग्रामीणों के उपनिवेश हैं, ग्रामीण नागर संस्कृति के और पूर्व की नागर संस्कृति पश्चिम की उपनिवेश है। इस तरह उपनिवेशवाद एक न समाप्त होने वाली प्रक्रिया है। निश्चित रूप से यह एक महत्वपूर्ण बिंदु था, जिसकी ओर पणिक्कर ने ध्यान खींचा और कहा कि दलित, लोक और अश्वेत साहित्य दो प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करता है—एक उपनिवेश संस्कृति की स्वीकार्यता की प्रवृत्ति और दूसरी उसके विरोध की आवृत्ति। यह साहित्य अपने श्रेष्ठतम स्वरूप में तब होता है, जब इसमें कृषिजन्य और ग्रामीण कथ्यों को प्रमुखता मिलती है। जमीन की गंध इस साहित्य का निजी वैशिष्ट्य है। यह अमूर्त सरलीकरण की जगह ठोस बिंबों को प्राथमिकता देता है। ऐसे शब्दों, प्रतीकों और मुद्राओं की बहुलता दलित, लोक या अश्वेत साहित्य में मिलती है, जिनसे 'एलीट' संवेदनशीलता को चोट पहुंचती है। आक्रोश और दुःख—ये दो ऐसे अहसास हैं जिन्हें यह साहित्य पूरी तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करता है।

इन समानताओं का जिक्र करने के अतिरिक्त पणिक्कर ने एक अन्य महत्वपूर्ण बिंदु की ओर संकेत किया। संस्कृति किसी समुदाय के सदस्यों को साथ लिए चलने का संघटनात्मक सिद्धांत मात्र नहीं है। यह दूसरे समुदायों से अपना अलगाव स्थापित करने का माध्यम भी है। अश्वेत साहित्य के इस सामान्यीकरण के बावजूद उनमें कई, और कभी-कभी परस्पर विरोधी विभेद भी हैं। पणिक्कर ने क्लेयरेंस मनेर को उद्धृत करते हुए उल्लेख किया कि सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के विवेक से अलग एक अश्वेत विवेक जो उनकी प्राचीन संस्कृति की उपज था, की पहचान अपने श्वेताभ अंधेपन की वजह से पश्चिम को हो भी नहीं सकती थी।

तीसरी दुनिया के मुहावरे को पणिक्कर ने यथार्थपरक ढंग से खोलते हुए एक महत्वपूर्ण बात कही कि आज हर देश के भीतर एक तीसरी दुनिया मौजूद है जो पहली और दूसरी दुनिया के आत्मसंतोष के लिए एक थर्राहट पैदा करती है।

निश्चित रूप से पणिक्कर का यह आलेख अश्वेत सौंदर्यशास्त्र को उनकी समूची मनोरचना के भीतर से निकालने का एक प्रयास था, जिसमें कई महत्वपूर्ण बातें थीं और जो आगे की बातों के लिए प्रस्थान बिंदु बनीं। वीरेंद्र कुमार बरनवाल ने कहा कि अश्वेत साहित्य से हमारी पहली दिलचस्पी राजनैतिक और सामाजिक रही है, उसके सौंदर्यशास्त्रीय पक्षों पर हमारा ध्यान कम गया है। मूल तौर पर इसे विरोध के साहित्य के रूप में 'ब्रैंड' कर दिया गया है। मगर अब अफ्रीकी साहित्य सीमा को पार कर रहा है और डेरेक वाल्काट, सोयेंका और टॉनी मोरिसन जैसे लेखकों की मार्फत ज्यादा जटिल विषयों और संवेदनाओं को व्यक्त कर रहा है। उन्होंने यह बात रेखांकित की कि प्रारंभ में वहां के कवियों, लेखकों ने अंग्रेजी के कवियों का अनुसरण किया, मगर इस बात को उन्होंने शीघ्र ही महसूस किया कि उन्हें अपना अलग सौंदर्यबोध विकसित करना चाहिए। उन्होंने अपने मिथकों, लोक तत्वों और मुहावरों का इस्तेमाल शुरू किया। अपने यथार्थ को व्यक्त करने के लिए वे अपनी जड़ों की ओर लौटे। सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने यूनानी और यूरोपीय मिथकों की पुनर्व्याख्याएं भी कीं। यूरीमिडीज—के नाटक को सोयेंका ने एक लगभग दूसरे नाटक में बदल दिया। निश्चित रूप से इस नई सौंदर्यशास्त्रीय चेतना के साथ और अपनी जातीय परंपरा को समाविष्ट करते हुए अफ्रीकी साहित्य ज्यादा वयस्क हुआ है।

हरीश नारंग ने साहित्य की सामाजिक भूमिका की अपरिहार्यता को रेखांकित किया, जो मूलतः राजनैतिक भूमिका है। उन्होंने अफ्रीका में उपन्यास विधा की इस समाज सापेक्ष भूमिका की विस्तार में चर्चा की और इस बात के उदाहरण दिए जब साहित्यिक कृतियां राजनैतिक भविष्यवाणियों की तरह साबित हुईं या साहित्यिक चरित्रों से राजनैतिक व्यवस्था इतनी आतंकित रही कि उन्हें वास्तविक मान बैठी। आधुनिक अफ्रीकी लेखकों द्वारा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपने-अपने देशों के स्वाधीनता आंदोलनों को धार देने के उद्देश्य से साहित्य लिखा गया। बाद के वर्षों में इस साहित्य की सामाजिक भूमिका कई दूसरे स्तरों पर भी खुली। जोगेंदर पाल ने सार्त्र के इस कथन की याद दिलाई कि आने वाला कल तीसरी दुनि[illegible] का है। यह बात उन्होंने तीसरी दुनियां में बढ़ रही सकेलीपन को देखते हुए कही थी।

आनंद स्वरूप वर्मा ने एक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान खींचा कि सारे अफ्रीकी साहित्य को एक ढंग से नहीं देखा जा सकता। एक अफ्रीका वह है जहां साठ के दशक में आजादी मिली, [illegible] की हवा चली। मगर अफ्रीका का एक हिस्सा वह है ज[illegible] लड़ाई चल रही है। दक्षिण अफ्रीका का साहित्य पूरी तरह [illegible] विरोधी साहित्य है। मगर शेष अफ्रीका में मोहभंग की ए[illegible] दिखती है। इन देशों में नवउपनिवेशवाद, [illegible] आगमन तथा सांस्कृतिक आक्रमण जैसी चिंताए[illegible] से काफी मिलती-जुलती हैं।

महिला लेखन पर केंद्रित सत्र में इप्सिता चंदा ने उत्तर उपनिवेशवादी दौर की समाप्ति के बाद जारी पुनर्निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा की। सुकृता पाल ने महिलाओं के संदर्भ में अफ्री[illegible] यथार्थ के वैशिष्ट्य की चर्चा की। उन्होंने कहा कि अनुभूति की

प्रामाणिकता का अहसास जितना गहरा होगा, साहित्य का परिदृश्य भी उतना ही व्यापक होगा। उन्होंने महिला लेखन के संदर्भ में अनुभवों की इसी प्राथमिकता की बात की। रूपाली सरकार ने लेखन में मातृत्व को आभामंडित करने के प्रश्न को उठाया और कहा कि पुरुष लेखकों द्वारा इसका आदर्शीकरण अंततः उनके शोषण का ही हिस्सा है।

'अफ्रीकी उपन्यासों में औरत और प्रतिरोध' विषय पर चर्चा करते हुए रूपाली सरकार छिब्बर ने कहा कि यह पश्चिमी समाजों की मान्यता है कि राजनीति पुरुषों का क्षेत्र है। मगर कई अफ्रीकी समाजों में औरतें भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आई हैं। मगर आर्थिक बदलाव और उपनिवेशवाद के बाद इन समाजों में औरत की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति, दोनों में गिरावट आई क्योंकि यूरोपीय लोगों द्वारा स्थापित उपनिवेशवादी व्यवस्था यह देखने में असमर्थ रही कि अफ्रीकी औरतों की राजनीतिक भूमिका भी रही है। मगर अफ्रीका में औरतें राजनीतिक आंदोलनों में पुरुषों के बराबर ही साझेदार रहीं। राजनैतिक और सामाजिक सांस्कृतिक सारों पर औरत के इस प्रतिरोधी स्वर को वहां के साहित्य में जगह मिली है। उन्होंने अफ्रीकी कहानियों और उपन्यासों की चर्चा करते हुए औरत की इस भूमिका को पुष्ट किया।

ई. वी. रामाकृष्णन ने कवि की 'ऐक्टिविस्ट' भूमिका को भारतीय और अफ्रीकी साहित्य में व्याप्त विरोध के स्वरों से जोड़कर देखा। उन्होंने मिलान कुंदेरा का यह वक्तव्य उद्धृत किया कि सत्ता के विरुद्ध मनुष्य का संघर्ष विस्मृति के विरुद्ध स्मृति का संघर्ष है। कविता में एक मानवीय स्थिति या राजनीतिक घटना को दर्ज करने की प्रक्रिया इतिहास के 'आफिशियल दर्शन' को नकारने का कार्य है। उन्होंने कहा कि दक्षिण अफ्रीका और नाइजीरिया जैसे [illegible] अलग-अलग समय में राजनैतिक कैदी रहे हैं। [illegible] में बहुत सारे भारतीय लेखकों को भी [illegible] हक खानी पड़ी। भारतीय भाषाओं की कविता में असंतोष [illegible] गहरी परंपरा रही है जिसे भक्त कवियों तक के काव्य में [illegible] जा सकता है। कई अफ्रीकी कविताओं में भी हिंसा और [illegible] के बीच जीने की तकलीफ बार-बार उभरती है।

[illegible] देव सेन ने कहा कि अश्वेत हो, महिला हो या [illegible] हर संदर्भ में शोषितों के बीच कुछ चीजें एक-सी हैं। [illegible] की बात की और इसके साथ आक्रोश के [illegible] को जोड़ा। दूसरी ओर नचनीता ने [illegible] कहा कि हम अपनी [illegible] में यूरोपीय मर्दवाद के मानसिक उपनिवेश हैं। [illegible] में उस पूरी व्यवस्था के खिलाफ लड़ना चाहिए [illegible] दोनों शोषित हैं।

हिंदी के प्रख्यात लेखक राजेंद्र यादव ने एक दूसरा सवाल खड़ा किया। उन्होंने कहा कि यह बात अक्सर मुझे परेशान करती रही है कि साहित्य में 'यूनिवर्सेलिटी' क्या होती है। दरअसल यह एक बहुत बड़ा मिथ है। उन्होंने कहा कि जब मैंने स्त्रियों और दलितों को एक नजरिए से देखने की कोशिश की तो मुझे बहुत गालियां मिलीं। दरअसल जो लोग वर्ण या जन्म के आधार पर पृथक कर दिए जाते हैं, उन सबकी नियति और यातना एक-सी होती है। ऐसा लगता है कि उनको सिर्फ बर्दाश्त किया जाता है। उन्हें एक खास तरह की छूट—दूर से दी जाने वाली इज्जत दी जाती है। यथास्थिति बनाए रखने के लिए उनसे एक तरह का संबंध विकसित किया जाता है, मगर उन्हें उनकी सीमाएं बता दी जाती हैं।

यादवजी ने यह सवाल भी किया कि 'हमारा सारा सौंदर्यशास्त्र क्या हमारी समस्या है? हम जिस आस्वाद की मानसिकता को जी रहे हैं, क्या वह हमारी अपनी चीज है? या हम पर बाहर से थोपी गई है? उन्होंने कहा कि आज हमसे दृष्टि छीन ली गई है और हम पर बाजार थोप दिया गया है।'

आयोजन के आखिरी सत्र में 'मराठी में दलित साहित्य' विषय पर पर्चा पढ़ते हुए अर्जुन डांगले ने उन सामाजिक राजनीतिक स्थितियों और बदलावों की चर्चा की जिनके तहत मराठी में दलित साहित्य विकसित हुआ। उन्होंने कहा कि दलित साहित्य का जन्म सामाजिक-आर्थिक बदलावों के लिए हुए क्रांतिकारी संघर्षों से हुआ है। यह साहित्य उन लोगों की स्वतंत्रता की प्रत्याशा से गहरे जुड़ा है जो अस्पृश्य के रूप में सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक असमानता के शिकार रहे हैं। दलित साहित्य को इसके समाजशास्त्रीय चौखटे में रखकर ही देखा जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि दलित साहित्य का सृजन तब तक अपरिहार्य है जब तक सामाजिक संरचना नहीं बदलती और शोषण जारी रहता है। पचास के दशक में जो साहित्यिक चेतना दलित युवा लेखकों में आई, उस पर सम्राज के संभ्रांत वर्गों के मूल्यों का प्रभाव था। मगर धीरे-धीरे उन्होंने महसूस किया कि उनकी समस्याएं और उनका जीवन दूसरों से अलग है। यह ठीक वही प्रक्रिया थी, जिसके तहत अफ्रीकी लेखकों ने अपने आपको श्वेत प्रभावों से मुक्त किया। डांगले ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य में दलित साहित्य की सुगठित और संयोजित परंपरा मराठी साहित्य में देखी और उसके सामाजिक कारणों पर रोशनी डाली।

गुजरांती के कवि और आलोचक जोसेफ मकवान ने शोषण और तकलीफ से दलित साहित्य के रिश्ते को रेखांकित करते हुए कहा कि इसमें उच्च वर्गों और वर्णों के प्रति गुस्सा स्वाभाविक रूप से मौजूद है। कथाकार भीष्म साहनी ने कहा कि अन्याय और शोषण सभी संवेदनशील रचनाकारों के प्रतिरोध का हिस्सा होने चाहिए इसे सिर्फ दलितों के साहित्य के रूप में देखना उचित नहीं होगा। ❑

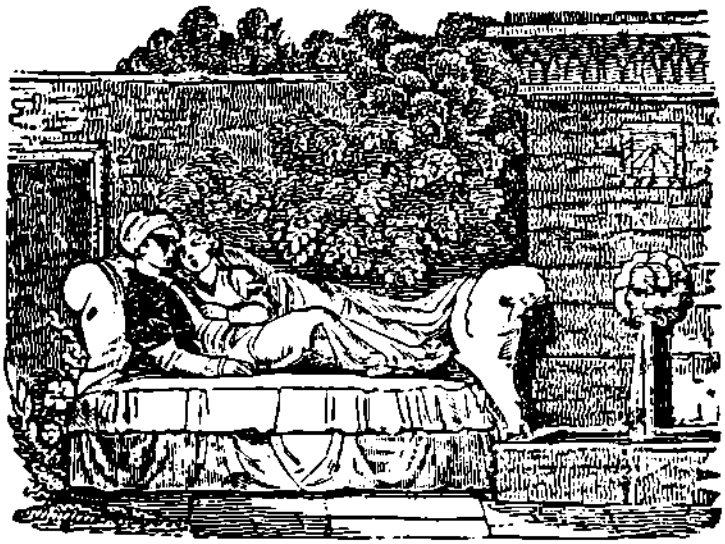
लेखकों से

अस्वीकृत रचना लौटाने के लिए कृपया डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

—संपादक

दास्ताने हज़ार रात

महाराज कृष्ण जैन



पुस्तक प्रेमियों व साहित्य के अध्येताओं के लिए **दास्ताने हज़ार रात** अथवा 'सहस्र रजनी चरित' कोई अपरिचित नाम नहीं है, किंतु यह भी सत्य है कि इस ग्रंथ के नाम के अतिरिक्त साधारण पाठक-वर्ग इसके विषय में शायद ही कुछ जानता हो। अलीबाबा और चालीस चोर, सिंदबाद की यात्राएं, अलादीन का चिराग जैसी अमर कथाएं जो न जाने कितनी शताब्दियों से जन मानस का रंजन करती आई हैं और जिन्हें विश्वभर के बाल पाठक चाव से पढ़ते आए हैं, 'सहस्र रजनी चरित' नामक इस विराट कथा संग्रह के ही अंश हैं—यह तथ्य कम ही लोगों को मालूम है।

पुरानी शैली की लोकरंजक कथाओं का यह बृहत् संकलन मूलतः अरबों की भूमि में रचा गया। इसकी भाषा भी अरबी है। किंतु ये सब कथाएं किसी एक लेखक की रचनाएं नहीं हैं। वास्तव में 'सहस्र रजनी चरित' के रचयिता का नाम उपलब्ध ही नहीं होता। इसका कारण यही है कि ये कथाएं परंपरा से अरब जनश्रुतियों के रूप में प्रचलित रही होंगी। इनमें कई कथाएं ऐसी हैं जो भारत, चीन तथा दूर पूर्व के देशों में उपलब्ध पुराकथाओं से पर्याप्त साम्य रखती हैं। इसके अतिरिक्त इनमें विद्यमान बहुत-सी कथारूढ़ियों व कथा-युक्तियां भी अन्य देशों में पाई जाती हैं। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि 'सहस्र रजनी चरित' में केवल अरब की ही नहीं, अन्य देशों की भी कुछ कथाएं अपने मूल अथवा परिवर्तित रूप में स्थान पा गई हैं। यह भी प्रकट है कि कथाओं के संकलन, संयोजन व संपादन का यह कार्य अनेक शताब्दियों तक विभिन्न विद्वानों द्वारा किया जाता रहा।

ऐसा लगता है कि हिंदी में इस ग्रंथ का कोई अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। कुछ फुटकर कथाएं तो अवश्य कई संकलनों तथा पत्रिकाओं में यदा-कदा प्रकाशित होती रहीं। संभव है, कोई संक्षिप्त अनुवाद निकला हो, किंतु किसी भी असंक्षिप्त हिंदी संस्करण का पता नहीं चलता। दूसरी ओर यह भी उल्लेखनीय है कि इसका एक बहुत उत्तम, संपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद सर्वप्रथम भारत में ही प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद किया था ख्यातनामा प्राच्यविद् सर रिचर्ड बर्टन ने और इसका सोलह खंडों में प्रकाशन सन् 1885 में वाराणसी में हुआ था। इससे पूर्व मैक्नाटन कृत अनुवाद भी भारत में ही कलकत्ता में 1839 से 1842 ई. के मध्य छप चुका था।

फ्रेंच, अंग्रेजी तथा कुछ अन्य भाषाओं में यह ग्रंथ अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही अनूदित हो चुका था। अंग्रेजी में इस कथा-सागर का प्रचलित नाम *अरेबियन नाइट्स* है, जो इसके अरब उद्गम की ओर संकेत करता है। किंतु अधिक पूर्ण नाम 'एक हज़ार एक रातें' ही है। प्राचीन अरबी साहित्य में भी इसका सर्वप्रथम उल्लेख *हज़ार अफसाने* नाम से मिलता है। अरब भूमि की मौखिक परंपरा में प्रचलित इस महाकथा में बहुत बड़ी संख्या में कथाएं व उपकथाएं अंतर्गुंफित थीं। इसी से इसका नाम 'एक हज़ार' या 'एक हज़ार एक' संख्या से जुड़ गया। किंतु इन कथाओं की वास्तव में कोई संख्या निश्चित नहीं है। विभिन्न संस्करणों की कथाओं की संख्या में अंतर है। कई कथाएं ऐसी हैं जो किसी एक संस्करण में हैं तो दूसरे में नहीं हैं। उपलब्ध संस्करणों में श्रेष्ठ, फ्रेंच विद्वान डा. जे.सी. मार्दुस द्वारा अनुवादित फ्रेंच संस्करण में कुल कथाओं की संख्या लगभग ढाई सौ होगी। इसमें मूल कथा एक हज़ार एक रातों तक तो चलती है, किंतु प्रायः एक ही कथा कई रातों मे बांटकर सुनाई गई है। कथाओं के कलेवर में भी वैविध्य है। कुछ कथाएं मात्र आधे पृष्ठ की हैं, तो कुछ लघु उपन्यास जितनी।

बच्चों के लिए तो समय-समय पर इसके अनेक संक्षिप्त रूपांतर सभी भाषाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अविकल अनुवादों में प्रथम अनुवाद फ्रेंच विद्वान प्राच्यविद् अंतोइन गैलां ने 1704 ई. से 1717 ई. तक क्रमशः अनेक खंडों में प्रकाशित करवाया। किंतु नैतिकता व श्लील-अश्लील की सामयिक धारणाओं के कारण इसके संपूर्ण अनुवादों में मूल अरबी ग्रंथों का स्वाद व गंध नहीं आ पाई। इस दृष्टि से सर रिचर्ड बर्टन का अनुवाद पिछले अनुवादों से बहुत बेहतर है।

किंतु मार्दुस का फ्रेंच अनुवाद ऐसा पहला अनुवाद है जो इस ग्रंथ में प्रतिबिंबित अरबी लेखन शैली, संस्कृति, जीवन पद्धति व नैतिकता को उसके मूल व असंशोधित स्वरूप में एक आधुनिक भाषा में संप्रेषित करता है। प्राचीन अरबों के रीति-नीति, आचरण व लोक-व्यवहार में ऐसा बहुत कुछ है, जो आधुनिक भद्र रुचि के अनुकूल नहीं पड़ता। मार्दुस से पूर्व के अनुवादकों ने इसे आधुनिक रुचि के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में इसकी मूल ध्वनियों व व्यंजनाओं की हत्या कर दी थी। किंतु मार्दुस का अनुवाद एक

अविकल अनुवाद है। मार्द्रुस के फ्रेंच अनुवाद में अंग्रेजी में इसे प्रस्तुत करने का श्रेय पोविस माथर्स का है। माथर्स ने भी अपने अनुवाद में मूल की पूर्ण रक्षा की है। यही नहीं, मार्द्रुस ने जिन अरबी गीतों व कविताओं को फ्रेंच में लययुक्त गद्य में प्रस्तुत किया था, माथर्स ने छंदों में ही अनुवादित करके उसके सौंदर्य में अभिवृद्धि की है। इन कविताओं में ग्रहणशील पाठक प्राचीन अरबों की संवेदना के मूल स्वरों को अनुगुंजित होते हुए सुन सकता है। ये कविताएं वास्तव में अनुवाद नहीं पुनर्सृजन ही हैं।

इसकी संयोजन कथा सासान के राजा शहरयार से आरंभ होती है। शहरयार ने जब अपनी आंखों से अपनी पत्नी के छिनालपन को देखा, तो उसने न केवल उसे मृत्युदंड दिया बल्कि वह कट्टर नारी-द्वेषी बन गया। अब वह नित्य एक नई कुमारी कन्या से विवाह करता और उसके साथ रात्रि बिताकर प्रातःकाल होते ही उसका वध करवा देता, ताकि उसके एक दुश्चरित्र स्त्री का पति कहलाने की संभावना ही न रह जाए।

इस क्रम में राज्य की सुंदर बालिकाओं की संख्या तेजी से कम होने लगी। पूरे राज्य में हाहाकार मच गया। अब विवाह योग्य कन्याएं समाप्तप्राय थीं। एक दिन जब राजा के लिए कोई वधू न मिली, तो वजीर जिस पर इस कार्य का दायित्व था, चिंतित हो उठा। उसकी अत्यंत विदुषी व सुयोग्य, परम रूपवती पुत्री शहरज़ाद ने उससे चिंता का कारण पूछा। कारण जानने पर उसने कहा कि आप राजा शहरयार से मेरा विवाह कर दें। या तो मैं उसका क्रूरतापूर्ण नियम तुड़वाने में सफल रहूंगी या मैं मारी गई, तो दूसरे मुसलमानों को मेरी शहादत से प्रेरणा मिलेगी कि वे इस आततायी राजा को सिंहासन से उतार फेंकें।

वजीर के बहुत समझाने पर भी शहरज़ाद अपनी ज़िद पर अड़ी रही। फलतः वह राजा शहरयार से ब्याह दी गई।

शहरज़ाद सभी कलाओं, शास्त्रों व विज्ञानों में पारंगत थी। उसने अपनी छोटी बहन दुनियाज़ाद को अपनी योजना समझाई। योजना के अनुसार दुनियाज़ाद अपनी बड़ी बहन के साथ ही राजमहल में चली गई, ताकि वह अंतिम क्षणों में उससे विदा ले सके। राजा को इस पर क्या आपत्ति हो सकती थी!

अभी प्रातः होने में कई घंटे शेष थे। दुनियाज़ाद ने कहा, "दीदी, कोई कथा सुना दो, ताकि जितनी रात बाकी है, उसमें मन लगा रहे।"

शहरज़ाद बोली, "महाराज आदेश दें तो....।" शहरयार ने खुशी-खुशी अपनी सहमति दे दी।"

इस पर शहरज़ाद ने एक अत्यंत रोचक कथा सुनाई। किंतु कथा-दर-कथा शिल्प की उस कथा का एक भाग ही पूरा हुआ था कि सुबह हो गई। शहरयार ने कहा, "अब यह कथा पूरी होने पर ही तुम्हारा वध होगा, आज नहीं।"

सुबह जब वजीर अपनी बेटी के शव के लिए कफन लेकर आया तो उसे जीवित देखकर चकित रह गया।

कथा दूसरी रात भी पूरी नहीं हुई। तीसरी, चौथी, पांचवीं और इसी तरह पूरी एक हजार एक रातें बीत गईं। अब कथा तो समाप्त हो गई, किंतु इसी दौरान राजा शहरयार का पूर्णतः हृदय-परिवर्तन भी हो चुका था। उसने शहरज़ाद को प्राण-दान दिया और उसकी बहन दुनियाज़ाद का विवाह अपने छोटे भाई राजा शाहजमान से कर दिया। राजा शाहजमान भी अब तक नित्य एक नई कुआंरी लड़की का कौमार्य व प्राण हरता रहा था, क्योंकि उसकी पत्नी भी व्यभिचारिणी थी। शहरयार के प्रभाव में उसका भी हृदय-परिवर्तन हो गया। इस बीच रानी शहरज़ाद तीन पुत्रों को जन्म दे चुकी थी, जिनमें दो जुड़वां थे। शहरयार अपनी पत्नी की कथाओं से इतना प्रभावित हुआ था कि उसने अपने राज्य के प्रमुख इतिहास लेखकों व लिपिकर्ताओं को बुलाकर उनसे तीस खंडों में इस बृहत कथा को स्वर्णाक्षरों में अंकित करवाया।

कथा के उपसंहार से प्रकट है कि अरब विश्व में यह कथा मूलतः एक उपदेशात्मक कथा के रूप में देखी जाती थी। कथा का मूल स्वर वास्तव में उपदेशात्मक ही है। इतने विशाल फलक पर रचित इस कथा में विषय-वैविध्य का अबाध अवकाश था और वह इसमें है। कथाओं में रोचकता के पूर्ण निर्वाह सहित साहस, शौर्य, यात्रा, प्रणय, संशय, सांसारिक बुद्धिमत्ता, हास्य, व्यंग्य, धर्म, नीति, न्याय, शासन तथा अनेक शास्त्रों व कलाओं की चर्चा को समेटा गया है। भद्र समाज में इन कथाओं को यौन शब्दों तथा प्रसंगों के वर्जनारहित प्रयोग के कारण आपत्तिजनक माना गया है। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'सहस्र रजनी चरित' का यौन चित्रण आधुनिक अश्लील लेखन 'पोर्नोग्राफी' से सर्वथा भिन्न कोटि का है। आधुनिक युग का 'पोर्न' समकालीन नैतिक वर्जनाओं का उल्लंघन करने के कारण पोर्न है। यह इन वर्जनाओं का दोहन करने की दृष्टि से लिखा जाता है। किंतु 'सहस्र रजनी चरित' अपने देश-काल-समाज की वर्जना-रहित यौन नैतिकता को प्रतिबिंबित करता है, यह दीगर है कि हम इस नैतिकता को आज स्वीकार नहीं कर सकते। अरब यौन नैतिकता में कामेच्छा न तो जुगुप्सित है, न गोपनीय। यह नैतिकता संयम और ब्रह्मचर्य के गुणगान से अपरिचित प्रतीत होती है। अरब सामाजिक व्यवस्था में दास प्रथा भी सर्वसम्मत थी। श्रीमंत नागरिकों के पास बड़ी संख्या में सुंदरी युवतियां, हिजड़े व हब्शी सेवक होते थे। दूसरी ओर वेश्यावृत्ति का उल्लेख इसमें विरल-सा है।

'सहस्र रजनी चरित' के आरंभ में ही सासान राज्य को 'भारत व चीन भूखंडों में स्थित' बताया गया है। इससे इस कथा के प्राच्य पुराकथाओं से संबंध की संभावना प्रकट ही है। ऐसी कई भारतीय कथाएं हैं, जो साधारण से अंतर सहित 'सहस्र रजनी चरित' में भी मिलती हैं। ऐसी एक कथा उस चतुर नारी की है, जो उस पर कुदृष्टि रखने वाले चार राज्याधिकारियों को बहुत युक्तिपूर्वक एक संदूक में बंद कर देती है। यह कथा 'कथासरित सागर' में कुछ ही भेद सहित मिलती है। दोनों कथाओं का मूल ढांचा एक ही है। एक दिवास्वप्न देखने वाले मूर्ख की कथा बहुप्रचलित है, जो अंडे बेच-बेच कर (कुछ संस्करणों में दूध) धनी बनने का स्वप्न देखता है और अपनी अंडों की टोकरी गिरा देता है। 'सहस्र रजनी चरित' में यह नायक कांच के प्याले बेचने वाला है। किंतु यह कथा बहुत विस्तार से लिखी गई है तथा लोक प्रचलित अंत से बहुत आगे तक जाती है।

यह अप्रतिम कथासागर पौर्वात्य देशों की प्राचीन कथा-प्रतिभा का एक सुंदर उदाहरण तो है ही, अरब संस्कृति का एक जीवंत महाकोश भी है। ❑

मेरा विवाह

पृष्ठ 24 से आगे

गुस्सा मुझ पर निकालती हैं। एक उनके स्कूल की नई हैडमास्टरनी बड़ा परेशान करती है। अगर आप हमारे साथ होते, फिर भला उनको नौकरी करने की क्या जरूरत थी? कई बार कोई चीज लेने को बड़ा मन करता है। मम्मी लेकर नहीं देतीं। अगर ले भी देती हैं तो बक्स में रख लेती हैं। कहती हैं, यह तेरे विवाह में दी जाएगी। मेरे विवाह पर तो आप आएंगे? एक दिन जब कहीं मेरे लिए घर-वर देखने जाना था, मम्मी अंदर वाला दरवाजा बंद करके बक्स में से आपकी तस्वीर निकालकर देर तक रोती रहीं। मैंने झिर्री में से देखा था। अगर मम्मी ने विवाह पर नहीं भी बुलाया तो मैं खत लिख दूंगी। आप उस घड़ी जरूर आइएगा, पापा। नहीं तो लोग क्या कहेंगे?

पापा, आप हमारे शहर में अपनी बदली क्यों नहीं करवा लेते? चाहे हमारे घर न आना, हमारे साथ न बोलना, लेकिन आपकी राजी-खुशी का तो पता लगता रहेगा। पापा, भगवान की कसम, आप मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। क्या आप मेरे खत का उत्तर देंगे? पापा....? कई-कई बार तो मुझे बहुत ही गुस्सा आता है। मम्मी के साथ आपके लाख गिले-शिकवे हो सकते हैं, मैंने तो आपका कुछ नहीं बिगाड़ा है न। मैं तो आपकी बेटी हूं। फिर भी आपने कभी मुझे याद नहीं किया। कभी मुझसे मिलने नहीं आए। आप बड़े निर्मम हैं। लेकिन बेटियों को तो हमेशा ही माता-पिता की जरूरत होती है। मैं कैसे अपने मन को तसल्ली दूं।

पापा, एक बार, सिर्फ एक बार मिलने आ जाओ।

— आपकी बेटी
रजनी

चिट्ठी लिखकर कई दिन तक रजनी सोचती रही कि पोस्ट करे या नहीं। लेकिन एक दिन उसने हिम्मत करके, धड़कते दिल से अपनी मम्मी से चोरी-छिपे यह चिट्ठी पोस्ट कर ही दी। चिट्ठी पोस्ट करते ही उसको डर-सा लगता रहा। पता नहीं, पापा क्या सोचेंगे। पता नहीं, मम्मी कितना गुस्सा करेंगी। वह सोचती रहती कि किसी तरह चिट्ठी रास्ते में ही गुम हो जाए तो अच्छा है।

लेकिन फिर वह उतावली होकर जबाव का इंतजार करने लगी। कभी कोई दरवाजा खटखटाता तो वह चौंककर उठती कि कहीं उसके पापा ही न आए हों। कभी उनकी मुंडेर पर कौवा बोलता तो वह हसरत भरी निगाहों से उसे देखती, शायद उसके पापा के आने का संदेशा लेकर आया हो। आटा गूंधते समय अगर कभी परात में से आटा उछलता तो वह एक जन की रोटी और तैयार कर लेती कि कहीं बाद में तैयार करते हुए देर न हो जाए।

आजकल वह शाम-सुबह दोनों वक्त घर को झाड़-पोंछकर संवारती। ड्राइंगरूम के भारी पर्दे भी उसने आप ही घर धो लिए थे कि धोबी शायद कई दिन लगा दे। मम्मी के मना करने के बावजूद वह नया टी-सेट भी ले आई थी।

रात को सोए-सोए उसको सपना आता जैसे सोने की बग्गी में बैठकर उसके पापा आए हैं, उसके लिए ढेर से रेशमी कपड़े, मोतियों के हार और सुंदर-सुंदर किताबें लाए हैं। कभी-कभी सपना आता कि उन्होंने दो सिपाहियों को हुक्म दिया है कि इस लड़की ने मेरी नींद खराब कर दी है। ले जाओ, इसको पकड़कर। कभी वह बहुत खुश हो जाती और कभी बहुत बेचैन।

इंतजार करते-करते आखिर एक दिन कालेज में चिट्ठी आई। चिट्ठी पकड़ते ही उसका दिल जोर-जोर से धड़कने लगा। और वह छुट्टी लेकर घर आ गई। मम्मी स्कूल गई हुई थीं। जल्दी-जल्दी उसने चिट्ठी खोली! लिखा था—

प्यारी बेटी रजनी,

तेरी चिट्ठी मिली। बेटी, तू भी मुझे बहुत प्यारी है। तू मुझे याद भी बहुत आती है। लेकिन रानी बिटिया, मेरी मजबूरियां नहीं समझतीं इसलिए शिकवा करती हो।

इसे बदकिस्मती कहो या कुछ और। कुछ गलतफहमियों के चलते मेरे और तेरी मम्मी के रास्ते अलग हो गए। तेरी मम्मी मुझे छोड़कर चली गई। वह तुझे भी साथ ही ले गई, जब गुस्से-गिले की गरमी दिमाग से उतरी तो मुझे पता लगा कि मेरी तो दुनिया ही सूनी हो चुकी थी। मैं बहुत परेशान हो गया। एक-दो लोगों के द्वारा तुम्हारी मम्मी को कहलवा भेजा कि गुस्सा-गिला भूलकर वह लौट आए। लेकिन उसने भी औरतों वाली जिद पकड़ ली थी और मैं चाहते हुए भी खुद लेने न जा सका। फिर नफरत की दीवारें बढ़ती गईं और मेरे घर वालों ने दूसरे विवाह पर जोर देना शुरू कर दिया। इसी प्रकार मुझे तेरी नई मम्मी के घर वालों के साथ कुछ वायदे करने पड़े।

बहुत अच्छी है तुम्हारी यह मम्मी। मैं उसके साथ दगा नहीं कर सकता। मैं उस औरत का कर्जदार हूं। वह मेरी परेशानियां समझती है और मुझे बेहद प्यार देती है। मैं कोई ऐसा काम नहीं कर सकता जिससे उसके दिल को ठेस पहुंचे।

हां, तेरे विवाह के बारे में उसने कह दिया है कि मैं उस मौके पर चला आऊंगा। जो कुछ भी दे सकता हूं, दे आऊंगा। लेकिन सिर्फ एक बार। इसलिए बेटी, अब मैं तेरे विवाह पर ही आऊंगा।

इस तरह की चिट्ठियां लिखकर मुझे परेशान न करना और न ही अपनी मम्मी से उनके पिछले जीवन के बारे में पूछकर उनको परेशान करना।

स्नेह सहित,
तुम्हारे पापा

चिट्ठी पढ़कर एक बार तो रजनी को रोना आ गया लेकिन फिर वह मुस्कुरा पड़ी। उसी शाम बड़े चाव के साथ उसने मम्मी से पूछा, "मम्मी आप मेरा विवाह कब करेंगी।"

मम्मी ने दो पल हैरानी से उसकी ओर देखा फिर उनके चेहरे पर भी मुस्कान फैल गई। ❑

मनुष्य को नगण्य बनाने वाले संगीत के बीच रघुवीर सहाय

सुरेश सलिल

हाल ही में प्रकाशित पुस्तक *अज्ञेय–अपने बारे में : एक साक्षात्कार*, (देखें 'आजकल', नवंबर, 93) स्वर्गीय कवि रघुवीय सहाय और गोपालदास द्वारा चार बैठकों में लिए गए एक लंबे साक्षात्कार का संपादित और मुद्रित रूप है। इस पुस्तक के जरिए अज्ञेय के कवि-गद्यकार-विचारक-क्रांतिकारी और व्यक्ति के विकास को जितने निकट से, जिस अंतरंगता के साथ देखा और जाना जा सकता है, वैसा सौभाग्य स्वयं अज्ञेय के कृतित्व और उनको केंद्र में रखकर लिखी गई पुस्तकों के जरिए तो नहीं ही प्राप्त हो सकता था, बल्कि वर्षों उनके सीधे संपर्क में रहकर अज्ञेय-विशेषज्ञ होने का दम भरने वाले भी पा सके होंगे, इसमें संदेह है। वैसी ही एक छोटी-सी कोशिश विष्णु नागर और असद जैदी के संपादन में हाल में ही प्रकाशित एक और पुस्तक *रघुवीर सहाय*[1] में, खासकर उसके दूसरे खंड के रूप में प्रस्तुत की गई कवि रघुवीर सहाय से विष्णु नागर, प्रयाग शुक्ल, मंगलेश डबराल और असद जैदी की, लगभग 40 पृष्ठों में फैली बातचीत में लक्ष्य की जा सकती है। यह बातचीत तीन शीर्षकों–कविता की शुरुआत, रचना का शिल्प और पत्रकारिता–में संयोजित है, और जाहिर है कि कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व के इन्हीं तीन पक्षों पर फोकस रखती है। इस बातचीत को और फैलाया जा सकता था, बल्कि क्या ही अच्छा होता कि पूरी पुस्तक रघुवीर जी से की गई बातचीत के रूप में होती। तब शायद इसका महत्व भी दूसरा होता–एक मानुमेंटल काम जैसा। साठ सालों में फैला लंबा जीवन था उनका। परिवार–जनपद लखनऊ से जुड़ी स्मृतियों का एक समृद्ध भंडार था उनके पास, रचना–पत्रकारिता और भाषा के कई अनुषंगी सरोकारों से सघन जुड़ाव के अनुभव थे। लेकिन यह काम कोई दूसरा रघुवीर सहाय ही कर सकता था।.... और तब शायद मूल आयोजन से जुड़ी महत्वाकांक्षाएं भी आड़े आतीं। बहरहाल....



रघुवीर सहाय पर केंद्रित इस पुस्तक की योजना उनके जीवनकाल में बनी थी–कवि के साठवें जन्मदिन पर, उनके रचनात्मक अवदान की महत्ता को स्वीकार करते हुए, स्नेहोपहार के रूप में देने के लिए। इसीलिए 'जो निष्कर्षतः सिर्फ आलोचक हैं', ऐसे लेखकों को 'प्रयत्नपूर्वक... इस आयोजन से दूर रखा गया।' लेकिन दुर्भाग्य से यह पुस्तक रघुवीरजी के साठवें जन्मदिन पर उन्हें भेंट न की जा सकी और कई तरह की बाधाओं का सामना करते हुए अंततः उनके निधन के कोई डेढ़-दो वर्ष बाद–इसका प्रकाशन संभव हो पाया। इस अवांछित विलंब की वजह से अधिकांश लेखकों ने इस पुस्तक के लिए लिखे गए लेख विवश होकर अन्यत्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवा लिए। बाद में जब पुस्तक छपने की प्रक्रिया में आई तो 'कुछ लेखकों ने अपनी टिप्पणियों में मामूली फेरबदल किया' तथा कुछ लेख 'बाद में जोड़े गए'।

इस तरह पुस्तक का जो मुद्रित रूप सामने है, उसमें उपर्युक्त बातचीत के अलावा 22 लेख और टिप्पणियां, दो कविताएं तथा कवि के जीवन और कृतित्व संबंधी तथ्यों का सुरेश शर्मा द्वारा तैयार किया गया विवरण शामिल है। एक ही जिल्द के दो खंडों में

संयोजित पुस्तक के पहले खंड में लेख और टिप्पणियां हैं। इस खंड को, प्रारंभ और अंत में क्रमशः शमशेरजी और विनोद कुमार शुक्ल की कविताएं देकर बांधने की कोशिश की गई है तथा रघुवीरजी के कवि-कथाकार-पत्रकार पक्षों पर केंद्रित 21 लेखों के साथ, एक लेख, उनके पिता-पति और पारिवारिक पक्ष पर मंजरी जोशी (रघुवीरजी की बड़ी बेटी) का देकर संतुलन बनाने की संपादकीय सूझ भी द्रष्टव्य है। लीलाधर जगूड़ी, भगवत रावत, प्रयाग शुक्ल, गिरधर राठी, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, उदय प्रकाश, विजय कुमार, विनय दुबे, राजेंद्र शर्मा, विष्णु नागर, विमल कुमार, विनोद दास के लेखों में रघुवीरजी के कवि, विजय मोहन सिंह व अलका सरावगी के लेखों में कथाकार, कृष्ण कुमार और राजकिशोर के लेखों में पत्रकार तथा अशोक सेकसरिया, मनमोहन, असद जैदी के लेखों में उनके समाज सचेत विचारक पक्षों को प्रमुखता दी गई है। यहां एकत्र सबसे अधिक लोगों ने रघुवीरजी के कवि-रूप को अपने विचार केंद्र में रखा है, और शायद, उनके समूचे व्यक्तित्व के प्रमुख रंग को देखते हुए उचित भी है। लेकिन जो हार्दिकता मंजरी जोशी के संस्मरणनुमा लेख में देखने को मिलती है—अपनी खूबियों और खामियों के साथ जिस तरह के हाड़-मांस के एक मुकम्मल इंसान उस लेख में रघुवीरजी नजर आते हैं (और निश्चय ही इसकी वजह उनके बीच के पिता-पुत्री संबंधों का लंबा इतिहास है), कवि-रूप में वैसी मौलिक आत्मीयता, या उनके न होने की टीस, बहुत थोड़े 'पीसेज' में दिखाई देती है। इस लिहाज से सबसे ऊंची जगह निश्चय ही शमशेरजी की लंबी कविता की है, जो कवि की अर्धशती के मौके पर कोई दस साल पहले लिखी गई थी और कई बार नजरों से गुजर चुकी है। *और नीचे/समुद्र के उत्ताल उतावलेपनों का/मनुष्य को नगण्य बनाने वाला संगीत है/अरे तुच्छातितुच्छ..../ऐसे समुद्र की सिंफनी के बीच/रघुवीर सहाय।* यह सिंफनी निरी गलदश्रुता या भक्तिभाव के बीच नहीं सुनी जा सकती, बल्कि इसके लिए एक सच्चे शायर की जां-फिशानी और गहरे-पानी-पैठ वाली अभिज्ञा की जरूरत होती है इसी तरह जब अशोक सेकसरिया या मंगलेश डबराल या कृष्ण कुमार रघुवीर सहाय के न होने को याद करते हैं तो भावना और अंतर्दृष्टि को ठीक-ठीक 'जक्स्टापोज' करने की समझदारी उनके यहां साफतौर पर दिखाई देती है। अशोकजी, रघुवीर सहाय को आधुनिक कवि के रूप में देखते हुए भी आधुनिकता के उन दुर्गुणों को अनदेखा नहीं करते, जिनसे आज आधुनिकता परिभाषित हो रही है और रघुवीरजी जिनसे पूरी तरह मुक्त थे। इसीलिए उनकी भाषा में उन्हें हिंदी भाषा के संस्कार प्रवहमान होते दिखाई देते हैं और जब "रघुवीर सहाय 'दशा' लिखते हैं, तो न जाने किस स्मृति विभ्रम से वह भारतेंदु की 'भारत दुर्दशा' पढ़ने में आती है।"

अशोक सेकसरिया अपने लेख के अंत में रघुवीर सहाय की जिस सामर्थ्य और शक्ति से हमारी पहचान कराते हैं उसी का काव्यात्मक विस्तार मंगलेश डबराल के यहां हुआ है। मंगलेश डबराल रघुवीरजी के कवि-व्यक्तित्व को पोलिश कवि तादयूश रूजेविच के कवि व्यक्तित्व के समानांतर रख कर देखते हैं, दोनों के काव्य सरोकारों की समानताएं पहचनवाते हैं और एक रूपक के सहारे अपनी बात कहने की कोशिश करते हैं। मंगलेश कहते हैं, "रघुवीर सहाय जैसे किसी तोप के आगे एक छोटी-सी घिसी हुई पेंसिल रख देते हैं और इस तरह कि हमें तोप एक अमानवीय और हास्यास्पद चीज नजर आने लगती है।"

कृष्ण कुमार ने अपने लेख में प्रमुख रूप से रघुवीरजी की पत्रकारिता पर बात की है। इस विधा में रघुवीरजी की क्रांतिकारी भूमिका की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं, "रघुवीर सहाय ने *दिनमान* को जो स्वरूप दिया, वह इस कदर सापेक्ष था कि उनके निकाले जाने के बाद एक महीने भी नहीं चल सका।... हमारे समय में पत्रकारिता का इतिहास रखने वाले अंत में शायद इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि *दिनमान* एक पत्रिका थी ही नहीं, एक तरह का पत्राचार विद्यालय था, जो रमा जैन, अज्ञेय और रघुवीर सहाय की व्यक्तिगत भूमिकाओं के कारण चल सका। कचहरियों से लेकर स्कूल की प्रार्थनाओं तक दर्जनों विषयों पर बहुमूल्य तथ्यपरक सामग्री *दिनमान* ने अपने पाठकों के सहयोग से इकट्ठी की। ये विषय अधिकांशतः इस तरह के थे, जिन पर पत्रकार क्या, समाज वैज्ञानिक की दृष्टि भी नहीं जाती।" कृष्ण कुमार की तकलीफ का, इसी से जुड़ा एक और स्तर, उनका वह धिक्कार भी है, जो पत्रकारिता से जुड़े मित्रों के नाम इसी लेख में उन्होंने दर्ज किया है। इस धिक्कार की मूल प्रेरणा उन्हें शायद बौद्धिक उदारता और मानवीय करुणा के उन विलुप्त प्रायः बुनियादी मूल्यों से मिली होगी, जो खुद उनके ही अनुसार रघुवीरजी के विचार-जगत और व्यक्तित्व का सार थे। कृष्ण कुमार के इस लेख के समानांतर अगर हम राजकिशोर के लेख को रखकर देखें तो वहां निरर्थक बौद्धिक कसरत के सिवा कुछ हाथ नहीं आता। अशोक सेकसरिया ने अपने लेख में आधुनिकता के जिन दुर्गुणों की ओर संकेत किया है उनमें एक दुर्गुण यह निरर्थक बौद्धिक कसरत भी है।

प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित किए गए कई लेखों का महत्व उनके मूल्यांकनपरक और समीक्षकीय चरित्र के कारण भी स्वीकारा जाएगा। ऐसे लेखों में सबसे पहले, रघुवीरजी की कहानियों पर केंद्रित, विजय मोहन सिंह के आलेख का स्मरण आना स्वाभाविक है। विजय मोहन जब कहते हैं कि रघुवीर सहाय की कहानियां 'नई कहानी के अध्ययन और लेखन के इतिहास को अपसेट करती हैं', तो वह जाने-अनजाने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य के एक बहुत बड़े षडयंत्र की ओर उंगली उठा रहे होते हैं। 'एक जीता जागता व्यक्तित्व', 'मेरे और नंगी औरत के बीच', 'मुठभेड़' और 'विजेता' कहानियों का विश्लेषण करते हुए यहां रघुवीर सहाय की कहानियां को (नई कहानी के उस दौर में, जब 'विसंगति', 'विडंबना' और 'मानवीय करुणा' की कहानियां लिखी ही नहीं जा रही थीं, बल्कि वैसी ही कहानियों का गौरवगान भी हो रहा था और उन्हें ही 'उत्सव घोषित' भी किया जा रहा था) कहानियों की दुनिया में एक विस्फोट के रूप में रेखांकित किया गया है और एक पूरी पीढ़ी के 'छद्म विश्वास' के उद्घाटन की कहानियां कहा गया है। रघुवीर सहाय की कहानियों की परंपरा खोजते हुए, विजय मोहनजी, पीछे जैनेंद्र कुमार तक और उससे भी पीछे, विश्व कहानी में, टालस्टाय तक जाते हैं। काश, रघुवीरजी की कहानियों

का यह विश्लेषण सातवें-आठवें दशक के दौरान किया जा सका होता, तो शायद समकालीन हिंदी कहानी का परिदृश्य कुछ और होता।

रघुवीरजी के कवि पक्ष पर एक से अधिक मूल्यांकनपरक लेख इस संग्रह में हैं। उनमें से कई में उनके समग्र कवि-रूप को लिया गया है (राजेश जोशी, अरुण कमल, विजय कुमार) तो कुछेक में उनके सबसे नए कविता संग्रह *कुछ पते कुछ चिट्ठियां* पर विस्तार से बात की गई है (प्रयाग शुक्ल, गिरधर राठी)। इनमें से पहली कोटि के लेख निश्चय ही अधिक प्रभाव छोड़ते हैं क्योंकि वहां कवि रघुवीर सहाय की शक्ति और सामर्थ्य के साथ-साथ उनके वैचारिक अंतर्विरोधों और सीमाओं को भी रेखांकित करने की निस्संग कोशिश हुई है। प्रयाग और राठी के लेख रघुवीरजी के नए काव्य संग्रह पर ब्यौरे से सोचने का मौका देते हैं। ऐसे ही कुछ लेख कवि के अन्य संग्रहों को केंद्र में रखकर भी लिखाए जाने चाहिए थे। लीलाधर जगूड़ी का लेख रघुवीरजी की अत्यंत प्रसिद्ध कविता 'रामदास' पर केंद्रित है और इस कोटि का इस पुस्तक में अकेला यही एक लेख है जबकि रघुवीरजी की 'दयाशंकर', 'नशे में दया' आदि अनेक कविताएं इसी तरह के स्वतंत्र अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं। जगूड़ी ने अपने टिप्पणीनुमा लेख में, 'रामदास' का अध्ययन करते हुए, जिस तरह आधुनिक और क्लासिकी काव्य-बोध का संतुलन बनाए रखने की कोशिश की है, यह आधुनिक हिंदी कविता के अध्ययन में आज दुर्लभ होती जा रही है। यह संयोग ही है कि इसी कविता को आधार बनाकर दसेक साल पहले ऐसी एक कोशिश कृष्ण कुमार ने की थी।... यहां प्रस्तुत सामग्री में एक और श्रेणी इंप्रेशननुमा लेखों की भी है, जिसमें बहुत-से नाम लिए जा सकते हैं, लेकिन वस्तुतः जिनकी याद बची रह सकती है, ऐसे नाम शायद भगवत रावत, राजेंद्र शर्मा और विनोद दास के माने जाएंगे। कुछ लेख ऐसे भी देखने में आ सकते हैं, जिनसे प्रच्छन्न रूप से 'अहा-अहो' का स्वर निकलता सुनाई दे। इस कोटि के बारे में सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि 'अहा-अहो' वादी भक्ति से स्वयं रघुवीर सहाय को सख्त नफरत थी और वह उस युग के बीत चुकने की घोषणा कर चुके थे। इस भक्ति भाव के बीच से एक क्षीण स्वर यह भी निकलता है कि रघुवीरजी की विरासत को आगे ले जाने की कुव्वत सिर्फ हमी में है, क्योंकि हम रघुवीरजी के जैसे दिख सकते हैं, उनके लिए एक चौखटा बना सकते हैं, जिसमें मुक्तिबोध के सिवाय अब तक और किसी को बांधा नहीं जा सका। इस प्रवृत्ति की तरफ अशोक सेकसरिया ने भी अपने लेख में संकेत किया है, (आज जो हिंदी कविता लिखी जा रही है उस पर रघुवीर सहाय का सबसे ज्यादा प्रभाव है। एकाध कवि तो ऐसे हैं जिनकी कविता रघुवीर सहाय की अनुकृति में किया गया अभ्यास सरीखी मालूम पड़ती है।.... रघुवीर सहाय को इस बात की हमेशा शिकायत रहती थी जब कि किसी के भी लिए और खासकर कवि के लिए तो सबसे ज्यादा आत्मतुष्टि की बात यही होती है।) वह यहां तक कहते हैं कि "सीखने और अनुकरण करने में भारी अंतर होता है।" और जो लोग अनुकरण की कला को ही उपलब्धि मानकर चलते हैं उनके रचनात्मक सूत्र कहीं न कहीं कलावाद से जुड़े होते हैं। कलावाद की गंध इस किताब की योजना में कहीं न कहीं है। बल्कि संपादकीय वक्तव्य की एक पंक्ति ("हमने इस पुस्तक को रचनात्मक व्यक्तियों के लिए यहां तक खुला रखा है कि वे यदि लेख न लिख पाएं तो रघुवीरजी को समर्पित करते हुए रचनाएं भेजें।") में तो उसी कलावाद से जुड़ी गोत्र-श्रेष्ठता की गर्वोक्ति भी ध्वनित होती सुनी जा सकती है कि रचनात्मक व्यक्तित्व कौन-कौन हैं, इसका फैसला हम करेंगे। शायद इसी गोत्रश्रेष्ठता की वजह से विनोद कुमार शुक्ल की यहां निहायत गैरजरूरी महसूस होती कविता तो पुस्तक में है, लेकिन रघुवीरजी के रचनात्मक व्यक्तित्व के कई बेहद जरूरी पक्ष छूट गए हैं।

नाटकों और कविताओं के अनुवाद में रघुवीर सहाय की क्रांतिकारी भूमिका का यहां उल्लेख तक नहीं है। रूपंकर कलाओं के साथ रघुवीर सहाय के जो रचनात्मक संबंध थे उन पर गौर किया जाना भी यहां जरूरी नहीं समझा गया। जीवन के अंतिम दौर में अपसंस्कृति और सांप्रदायिक उभार के विरुद्ध रघुवीर सहाय ने जो आत्मसंघर्ष किया था, उसे भी नजरअंदाज किया गया। रघुवीर सहाय की कविता और गद्य के सजग पाठक अच्छी तरह जानते होंगे कि उनकी कविताओं और कहानियों में अवध और बैसवाड़े की मिट्टी और गंध में रचे-बसे शब्द, मुहावरे, ध्वनियां और लगभग दुर्लभ हो चुके चित्र लगातार बजते सुनाई देते रहते हैं। रघुवीर सहाय की भाषा के प्रति बेहद सजग और संवेदनशील हमारे मित्रगण उनकी जनपदीय स्मृति के इस भाषिक पक्ष को भी नहीं देख पाए। अलावा इसके, एक सामाजिक के रूप में रघुवीरजी के व्यक्तित्व का निरपेक्ष अध्ययन, उनके किसी/किन्हीं समकालीन लेखक-मित्र/मित्रों द्वारा कराया जाना भी इस किताब में कुछ न कुछ नया जोड़ता ही। मनमोहन ने अपने लेख के शुरू में ही कहा है : "रघुवीर सहाय कोई ऐसे लेखक न थे जो अपनी बात कह चुका हो, अपनी कारगुजारी दिखा चुका हो और अब जल्दी से उसका साहित्यिक मूल्यांकन कर डालना या स्मारक बना देना शेष रह गया हो।" तब भला आखिर ऐसी क्या जल्दबाजी थी कि आने वाली पीढ़ियों को रघुवीरजी के समूचे व्यक्तित्व से परिचित होने का मौका देने की बजाय एक कर्मकांड की तरह सब कुछ निबटा दिया गया। बहुत तकलीफ के साथ यह बात कहनी पड़ रही है, कि जिस तरह की तस्वीर रघुवीर सहाय की पेश करने की कोशिश की जा रही है, वैसे वस्तुतः वह थे नहीं। उनका समूचा रचनात्मक संघर्ष ही उस तरह की तस्वीर के विरुद्ध था। ❑

---

1. रघुवीर सहाय : सं. विष्णु नागर, बसद जैदी; पृ. 212; मूल्य : 100 रु.; आधार प्रकाशन, पंचकूला।

बच्चों की मासिक पत्रिका

'बालभारती'

मूल्य : तीन रुपये, वार्षिक : 30.00 रुपये

व्यापार व्यवस्थापक,
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस, नई दिल्ली

कविता

बाकी लोगों की कविताएं

राजेंद्र धस्माना

प्रकाशवर्ष : संजय चतुर्वेदी ; आधार प्रकाशन, पंचकूला ; मूल्य : 40 रुपए।

सभी लोग बराबर हैं
सभी लोग स्वतंत्र हैं
सभी लोग हैं न्याय के हकदार
सभी लोग इस धरती के हिस्सेदार हैं
बाकी लोग अपने घर जाएं

ये 'बाकी लोग' कहां से आए? सभी लोगों में इन्हें भी शामिल होना चाहिए था, पर ये अलग से कैसे बचे रह गए? ये बाकी लोग हैं—बच्चे, जवान, बूढ़े—जिनके इर्द-गिर्द घूम रही हैं **प्रकाशवर्ष** की कविताएं। 'ये बच्चे अंधेरा होने के बाद खेलते हैं फुटबॉल/भाग जाते हैं झाड़ियों में छिपे भूत-प्रेत/इलाका छोड़कर/इनके पास हैं फटी कमीजें/ वही पहनकर गए थे स्कूल/ नंगे पांव/ और सुबह की रोटी के बाद कुछ खाया नहीं इन्होंने।' स्कूटर मैकेनिकों, दर्जियों और चाय वालों के नौकर उन बाकी लोगों में हैं जिन्हें किसी को हराने की नहीं, सिर्फ खेलने की इच्छा है। ये तानाशाह के स्टेडियम की बंदिशों को नहीं जानते। खुले हरे मैदान में दो-एक घड़ी सिर्फ खुश होने के लिए खेलते हैं। संजय चतुर्वेदी को उम्मीद है कि 'एक दिन कोई नहीं जाएगा/ तानाशाह के स्टेडियम की तरफ/ घुसने के लिए नहीं चाहिए होगा कोई प्रभुताचिह्न/ एक दिन नहीं दिखाना पड़ेगा/ अपने खिलाड़ी होने का प्रमाण-पत्र/ हर आदमी रखता होगा खेलने की इच्छा।' यहां हर आदमी में शायद 'बाकी आदमी' भी शामिल हैं। यह तो चतुर्वेदी की शुभाकांक्षा ही कही जा सकती है, पर तथ्य ज्यों के त्यों हैं और शायद रहें भी। हजारों साल गुजर जाते हैं लेकिन आदमियों के आपसी संबंध नहीं बदल पाते।

कोई सात हजार साल बाद खोला उसने दरवाजा
बदल गई थी भाषा
लेकिन बदले नहीं थे आदमियों के आपसी संबंध
और वही आदमी था आज भी राजा
जिसके डर से वह बंद हुआ था
सात हजार साल पहले।

सात हजार साल तक भी नहीं बदल पाया इंसान, हालांकि बूढ़ा जरूर हो गया होगा और 'बाकी लोग' भी तो बूढ़े होते हैं। इन्हें जब अग्नि धारण करती है तो वे शून्य की आवृत्ति पर गूंजते हैं—

सृष्टि के साथ अनुवाद में
अचानक जब सांस फूलती है
बूढ़े हमें आवाज देते हैं
पांच सौ प्रकाशवर्ष दूर से
मृत्यु के दिन बूढ़ों का जन्म होता है
बूढ़े अचानक हममें प्रवेश कर जाते हैं।

लेकिन संजय चतुर्वेदी को कालक्रम या सृष्टिक्रम के बीच 'बाकी लोगों' की दुनिया की चिंता ज्यादा लगती है। 'हम नहीं चाहेंगे/कि सौ साल बाद/ जब हम खोलें तुम्हारी किताब/ तो निकले उसमें से/ कोई सूखा हुआ फूल/ कोई मरी हुई तितली/ हम चाहेंगे/ दुनिया हो तुम्हारे सपनों के मुताबिक।' चतुर्वेदी का जोर आदमी पर रहा है। मुसीबतें, परेशानियां और 'बुरे दिन चले जाते हैं/ हम रहते हैं।' उनका कहना है कि दुनिया की हर चीज नष्ट हो सकती है लेकिन लोग नष्ट होने वाले नहीं :

जंगल जल जाने के बाद भी
हम सब बाकी रहेंगे।

अब बात सिर्फ यह रह जाती है कि आदमी और आदमी के बीच का फासला कब पाटा जा सकेगा? आदमी की पर्याप्त का काल का पाटा जाना तो समझ में आ सकता है लेकिन आदमी-आदमी के बीच की दूरी एक प्रकाशवर्ष तक पहुंचती जा रही है। ❑

हथेलियों पर अस्तित्व

मुख्तार अहमद

हथेलियों पर अस्तित्व : जोगेंद्र सिंह ; इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली ; मूल्य : 50 रुपए।

'हथेलियों पर अस्तित्व' काव्य संग्रह का शीर्षक स्वयं में जितना यथार्थ तथा चेतना बोध समेटे है, उतनी सार्थकता कविता में नहीं है। नाम बड़े दर्शन छोटे। केवल बारूद-बारूद कहने भर से कविता का काव्यत्व स्पष्ट नहीं होता। शीर्षक के साथ-साथ कविता में भी जीवंतता होनी चाहिए।

जोगेंद्र सिंह की हर कविता अपने आप में एक समस्या को दर्शाती है। गांवों से नवयुवकों के पलायन को उजागर करती कविता है 'अपने गांव की सड़क'—

यह सड़क गबरू के गांव तक जाती थी
जोड़ती थी गांव को शहर से
किसान को
मजदूर बनाने के लिए
कितनी जरूरी है यह सड़क।

मानव समय के साथ-साथ चलने को विवश है। समय भागा जा रहा है और मनुष्य उसे पकड़ने की चेष्टा में अपनी अस्मिता को खोता जा रहा है। उसका जीवन संवेदनहीन मशीन बनकर रह गया है। इसी महानगरीय विवशता को बहुत ही स्पष्टता से व्यक्त किया है—

मशीन के पुर्जे की तरह
हो गया है जीवन
सही मायने में मेरे अंदर का
मैं खो गया है
भीड़ में।

गांव, देहात, पहाड़ से आए व्यक्ति का महानगरीय जीवन में न घुल-मिल पाना तथा 'एडजस्ट' होने की जद्दोजहद में अपनी पहचान खोते जाना उसकी नियति बन गया है। ऐसी ही अनेक कुंठाओं को व्यक्त करने [illegible] प्रयास किया है। कविता 'उपसंहार' उस [illegible] कविता है जो स्वप्न हमने देखे [illegible] लिए, समाज के लिए, देश के लिए। देश की दुर्दशा का कच्चा-चिट्ठा है—

नंगे भूखे [illegible] पर छाया गरीबी
[illegible]
माताएं बच्चे जनती रहीं
अशिक्षितों समाज दिनोंदिन बढ़ता रहा।

ऐसी ही अनेक सच्चाइयों को अपने में [illegible] है कवि जोगेंद्र सिंह का काव्य-संग्रह [illegible] पर अस्तित्व।

कवि ने जिंदगी को करीब से देखा है, उसे कभी 'सड़क पर कूड़ा बीनते बच्चे' दिखाई देते हैं, तो कभी 'काम से लौटते मजदूर' मिल जाते हैं, तो कभी कवि स्वयं दिल्ली दर्शन को निकल पड़ता है। 'आज की दिल्ली' नई दिल्ली का दर्शन कराती है। इसे हम पर्यटन कविता भी कह सकते हैं। इसी श्रेणी में 'हिमालय-1', और 'काशी' कविता आती है। 'हिमालय-2' हिमालय की दुर्दशा तथा पहाड़ों की समस्याओं पर दृष्टिपात है।

कवि कहीं-कहीं दार्शनिकता में खो जाता है तो कभी पत्रकार बनकर सामने आता है अर्थात कविता को एक खबर की तरह प्रस्तुत करता है। कवि को यह जानना आवश्यक है कि कविता न तो घटना है, न दुर्घटना और न ही अखबार की खबर, पढ़ो और भूल जाओ। कविता इससे कहीं अधिक चाहती है। ❑

जीवनी

स्वावलंबन का महत्व

दशरथ ओझा

स्वान्तः सुखाय : बसंत कुमार बिरला; राजपाल एंड संस, दिल्ली; पृष्ठ : 386; मूल्य : 60.00 रुपये।

इस युग में कई बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने अपनी जीवनी लिखी है। पर बचपन का जितना आकर्षक वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है वह अन्यत्र कदाचित ही कहीं दिखाई पड़े। छोटी अवस्था में मां का स्वर्गवास होना, सेवक नथिया नाई के साथ उसकी गोद में खेलना, पूज्य पंडित उदित मिश्र की देखरेख में प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण करना, भाई-बहनों के साथ हंसी-खुशी बचपन के दिन बिताना। विभिन्न स्थानों पर पंडित उदित मिश्र के साथ घूमना-फिरना ऐसी घटनाएं हैं जिनका पाठक के मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह देखने को मिलती है कि माडर्न स्कूल का एक पुराना हिंदी अध्यापक इस नए युग में बिरला परिवार के बच्चों को किस प्रकार शिक्षा-दीक्षा देने में समर्थ होता है और अपने चरित्र-बल से अंग्रेजी न जानने पर भी नवयुग के अनुरूप इन होनहार बच्चों को किस प्रविधि से शिक्षित करता रहता है जिसके कारण वह इतना सम्मान का अधिकारी बनता है। यह गांधी युग के इतिहास का एक अद्‌भुत चमत्कारमय दृश्य है। जिस श्रद्धा और भक्ति के साथ बसंत कुमार जी ने अपने इस सामान्य ग्राम-निवासी गुरु को आदर दिया है वह प्रायः इस युग में असंभव-सा प्रतीत होता है। उनकी बाल्य-काल की स्मृतियां शिक्षा जगत को यह नया प्रकाश दे रही हैं कि यदि गुरु-शिष्य में प्राचीन ऋषिकुल का नाता बना रहे तो समाज का विकास किस प्रकार उत्तरोत्तर हो सकता है।

पुस्तक का दूसरा खंड है व्यापार-उद्योग प्रशिक्षण का। 13 वर्ष की अवस्था में उनके सामने यह प्रश्न आया कि लड़के स्वयं शेयरों का काम करें, खुद कमाएं और अपना खर्च चलाएं। आज के लड़कों को यह सुनकर हंसी आएगी कि इतने बड़े, इतने समृद्ध परिवार के 13 वर्ष के बालक को कुटुंब से कोई खर्च न मिले, वह स्वयं अपने परिश्रम से अर्जित धन से अपना खर्च चलाए। क्या यह संभव भी है? पर बसंत कुमार जी ने अपने अध्यवसाय के बल से इस असंभव प्रतीत होने वाली धारणा को सत्य करके दिखा दिया।

तीसरा रोचक प्रसंग विवाह का है। जीवन संगिनी की तलाश में एक नवयुवक नए युग के अनुसार किस प्रकार सोचता है, व्यवहार

करता है, परिवार के बड़े लोगों को प्रसन्न रखते हुए अपने मनोनुकूल पत्नी का किस प्रकार पता लगाता है। ये ऐसे प्रसंग हैं जिन्हें पढ़कर आश्चर्य भी होता है। सबसे रोचक प्रसंग सरलाजी का साहस-संबंधी है। जब उन्होंने महात्माजी के सामने स्पष्ट शब्दों में कहा—जिस युवक को मैंने देखा नहीं उसके साथ विवाह की स्वीकृति कैसे दे दूं।

चौथा प्रसंग है परिवार के साथ प्रेम संबंध बनाए रखने का। विवाह के उपरांत बियाणी परिवार से नया संबंध जुड़ा। इस पुस्तक में दो परिवारों—बियाणी परिवार और बिरला परिवार की देश-समाज सेवा का जो चित्र मिलता है वह गांधी युग के पूरे इतिहास का संक्षेप में ब्यौरा सामने रख देता है। इस प्रकार यह पुस्तक केवल एक परिवार का इतिहास ही नहीं स्पष्ट करती, अपितु पूरे देश की शैक्षणिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों का भी बड़ा ही विशद विवरण सामने रख देती है। इसमें अनेक पत्र ऐसे सम्मिलित किए गए हैं जिनसे पूरे देश के इतिहास पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। एक पत्र में गांधीजी बसंत कुमार को लिखते हरू— 'मेरी दृष्टि में भारतवर्ष के लिए खान साहब ज्यादा काम कर रहे हैं क्योंकि वह हिंदू-मुसलमान को मिलाते हैं। भाई परमानंद दोनों को लड़ाते हैं। उनको मुसलमानों का विश्वास ही नहीं है।'

(बापू के आशीर्वाद 11-11-34)

इस पुस्तक में डायरी संबंधी अंश स्वतंत्रता के पूर्व नवयुवकों में व्याप्त नई धारणा पर प्रकाश डालता है। मुझे तीन मार्च, 1942 की लिखी हुई डायरी का एक अंश बहुत ही रुचिकर प्रतीत हो रहा है क्योंकि यह आज के नवयुवकों के लिए भी आदर्श सामने रखता है। पत्र इस प्रकार है—'कई रोज से मेरे मन में तरह-तरह के विचार आ रहे हैं। कभी सोचता हूं कि आज-कल की लाइफ में मजा नहीं है। स्ट्रगल नहीं है। सुबह होती है, शाम होती है, उम्र यों ही तमाम होती है। पिताजी का शुरू किया हुआ व्यापार है। जहां सैकड़ों आदमी काम करते हैं—और इतने आफीसर हैं। वहां मैं भी एक हूं। मेरी इच्छा होती है कि मैं अपनी पूंजी लेकर घर-बार छोड़कर दो-चार साल अपने पैर पर खड़ा होऊं। पहले फायदा कम हो तो कम खर्च करूं। फायदा जैसे-जैसे बढ़े, वैसे अपना स्टैंडर्ड भी ऊंचा करता जाऊं।.... जब बुड्ढा होऊं तब मन में गर्व, प्रसन्नता रहेगी कि जिंदगी का मैंने पूर्ण रूप से सामना किया है।' इससे सिद्ध होता है कि गांधी युग आते-आते हमारे देश के समृद्ध परिवार के नवयुवक अपने पैरों पर खड़ा होना चाहते थे। आज के प्रत्येक कालेज के विद्यार्थी को यह सबक सीखना होगा कि पैतृक संपत्ति से ही सुख-शांति और उन्नति संभव नहीं। स्वावलंबन का गुण नवयुवकों को ऊंचा उठाता है।

मन में प्रश्न उठता है कि पुस्तक के लेखक का जीवन इतना सुखमय और शांतिपूर्वक कैसे व्यतीत हो रहा है! इतना बड़ा व्यापार, कितनी ही संस्थाओं का संचालन, सामाजिक-धार्मिक कार्यों में पूरा समय लगाना—यह सब संभव कैसे हो रहा है! इसका उत्तर आचार्य सुरेश्वराचार्य के ग्रंथ 'नैष्यकर्म सिद्धिः' में छिपा हुआ है। आचार्य सुरेश्वराचार्य नैष्यकर्म सिद्धिः नामक ग्रंथ लिखने का उद्देश्य इस प्रकार बताते हैं— 'न ख्यातिलाभपूजार्थ ग्रंथो स्माभिरुदीर्यते। स्वबोधपरिशुद्धयर्थ ब्रह्मविन्निकषाश्मसु।।' अर्थात् मैं यह ग्रंथ न अपनी ख्याति के लिए न आर्थिक लाभ और पूजा-सम्मान के लिए लिख रहा हूं। मेरा उद्देश्य केवल इतना ही है कि ब्रह्म ज्ञानियों के जीवन रूपी कसौटी पर अपने विचारों को कसकर देखूं, वे कितने खरे और कितने खोटे हैं। ग्रंथ लेखक इसी उद्देश्य से अपने ग्रंथ का नाम **स्वांतः सुखाय** रखना चाहता है। ❑

नाटक

महत्वाकांक्षा और प्रायश्चित

ईश्वर चंद्र मिश्र 'तरुण'

प्रायश्चित : मंत्रेश्वर झा; जयश्री प्रकाशन, पटना; साधारण-15 रुपए, सजिल्द-25 रुपए।

मैथिली नाटक **प्रायश्चित** वर्तमान समाज में आकांक्षा, राजनीति का अपराधीकरण और मानव जीवन में क्षमा और वैराग्य जैसे विषय को नाटक विधा द्वारा दो अंक और दस दृश्य में दर्शाने का एक प्रयास है।

कथा का नायक सुकुमार एक निर्धन परिवार से होते हुए भी मेधावी है। अपनी निर्धनता के कारण आई.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करने के बाद आगे नहीं पढ़ पाता है। उसके गांव के मोद नाथ, जो पटना में कलक्टर हैं, की मदद से उसे पुलिस में नौकरी मिल जाती है।

तदनंतर सुकुमार की शादी अपने ही गांव के धनाढ्य की आधुनिका बेटी रीता के साथ हो जाती है। रीता अनंत आकांक्षा वाली युवती है, जिसके कारण वह एक साधारण, सरल, कर्तव्यनिष्ठ, सेवा के प्रति समर्पित पुलिस हवलदार सुकुमार के साथ अपना दांपत्य जीवन पसंद नहीं करती।

रीता रमानाथ पर आकर्षित हो जाती है और आभूषण एवं पैसे लेकर रमानाथ के साथ बंबई भाग जाती है।

रमानाथ कुछ ही दिनों में सभी पैसा दारू और ऐश में उड़ा देता है। वह फिल्म बाजार में रीता को उतारकर देह व्यापार करवाना चाहता है लेकिन रीता उसके लिए 'फिट' नहीं बैठती। रमानाथ एक दिन रीता को ठोकर मारकर बाहर कर देता है।

दूसरी ओर सुकुमार की दो इनामी अपराधियों को पकड़ने के फलस्वरूप क्रमशः सहायक दरोगा एवं दरोगा में पदोन्नति होती है।

एक नेता षड्यंत्र कर उसे अपदस्थ करा देता है। पत्नी और असफलताओं से खिन्न सुकुमार वैराग्य लेकर पटना महावीर मंदिर का संत कुमारस्वामी हो जाता है।

बंबई से भटकती हुई रीता उसी मंदिर में आश्रय लेने हेतु आती है और अपने स्वामी को कुमार स्वामी के रूप में पाती है। वक्त ने उसकी आंखें खोल दीं। वह प्रायश्चित का मार्ग पूछती है। कुमार स्वामी उसके पश्चात्ताप पर उसे क्षमा कर जीवन जीने का संदेश देते हैं और कथा पूरी नाटकीयता के साथ समाप्त हो जाती है। ❑

संगीत

संगीत के नुस्खे

श्रद्धानंद त्रिपाठी

म्यूजिक मास्टर : प्रभुलाल गर्ग ; सितार मालिका : लक्ष्मीनारायण गर्ग ; डायमंड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली ; मूल्य : 15.00 रुपये मूल्य : 25.00 रुपये

म्यूजिक मास्टर संगीत की एक अच्छी पुस्तक है और जो विद्यार्थी अभी संगीत सीखना आरंभ करना चाहते हैं वह इस पुस्तक में हारमोनियम, तबला और बांसुरी की प्रारंभिक शिक्षा दी गई है। हारमोनियम शिक्षा में सरगमों के साथ नंबर प्रणाली विकसित की गई है। जिससे परिश्रमी विद्यार्थी कम से कम समय में हारमोनियम वादन सीख सकते हैं। शास्त्रीय संगीत पर आधारित कुछ गीतों की रचना बहुत ही सरल बनाने की चेष्टा की गई है। चित्रपट संगीत में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों के लिए कुछ गाने की स्वरलिपि दी गई है और उसके बारे में आवश्यक सुझाव भी दिए गए हैं। अकारा दिक्रम से कुछ रागों का शास्त्रीय विवरण दिया गया है जो रागों के स्वरूप को पहचानने में मदद देगा।

तबला शिक्षा में ताल की आवश्यकता, हाथ से ताली देने के नियम तथा तबले पर निकलने वाले मुख्य-मुख्य बोल को समझाया गया है।

अंत में बांसुरी शिक्षा दी गई है। इसमें बांसुरी के बारे में सचित्र वर्णन किया गया है। बांसुरी के बारे में अधिक से अधिक जानकारी देने की चेष्टा की गई है। और अंत में बाजे पर निकलने के लिए कुछ गीत गजल आदि दिए गए हैं। निष्कर्ष में ये कहा जा सकता है कि यह पुस्तक संगीत के प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए योग्य शिक्षक का कार्य करेगी।

प्रस्तुत पुस्तक सितार के प्रत्येक वर्ग के विद्यार्थियों का पूर्ण मार्गदर्शन करेगी। इस पुस्तक के शुरुआत में सितार के विभिन्न अंगों का सचित्र वर्णन किया गया है। प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए आवश्यक बातें जैसे—सितार की बैठक या सितार पकड़ना, सीधे हाथ की तैयारी, मिठास उत्पन्न करने के विषय पर विस्तृत रूप से समझाया गया है।

पुस्तक के मध्य में मृतीसखानी गतों और सेनवंशीय गतों पर विशेष रूप से समझाया गया है और उनके कई उदाहरण दिए गए हैं।

इसके अतिरिक्त कला पक्ष जैसे आलाप, आलाप के प्रकार, लय, लय के प्रकार, झाला और उनके प्रकार, मीड़, गमक, स्पर्श स्वर, तान बनाना, तानों के प्रकार सितार पर किस प्रकार से निकाला जाएगा इसको सरल ढंग से समझाया गया है।

मंच प्रदर्शन के लिए कुछ आवश्यक बातों को विशेष रूप से समझाया गया है जैसे—श्रोताओं से वाहवाही कैसे ली जाती है? देर तक आलाप कैसे करें? आदि।

पुस्तक के अंत में नित्य के अभ्यास पर जोर देते हुए नित्य सितार में किस बात का अभ्यास किया जाए? 12 स्वरों को सितार पर कैसे साधा जाए? सितार वादन के क्षेत्र के उस्तादों की कुछ बातों को विस्तार से समझाया गया है। सितार वादन से संबंधित किसी विषय को इस पुस्तक में छोड़ा ही नहीं गया है।

व्यंग्य

उलूक-तंत्र

क्षितिज शर्मा

उलूक-तंत्र : कन्हैया लाल 'मत्त' ; काकली प्रकाशन; के.बी.-47, कवि नगर, गाजियाबाद; पृष्ठ: 72; मूल्य : 35 रुपए।

व्यंग्य की ताकत उसकी चुभन और अर्थ को बहुआयामी संदर्भ देने में है। व्यंग्य में जो कहा गया है, उसका अर्थ उतना ही नहीं होता। कहा गया तो प्रतीक मात्र होता है। उसके संदर्भ तात्कालिक जीवन की तमाम अच्छाइयों और विकृतियों को तलाश कर एक स्वच्छ परंपरा की ओर संकेत करते हैं। व्यंग्य का मुख्य काम विकृतियों पर चोट करना है—प्रतीक उनका उपहास करने के हथियार होते हैं। इस अर्थ में कन्हैया लाल 'मत्त' के व्यंग्य संग्रह उलूक तंत्र को देखें तो समकालीन जीवन का एक बड़ा पक्ष इसमें नजर आता है। 'उलूक-तंत्र' यहां लोकतंत्र का ही पयार्य है। उसके दो पक्ष हैं—एक तथाकथित बुद्धिमान पक्ष जो साधनों और सुविधाओं को भोग रहा है। उसके पास तंत्र है—ताकत है और उपेक्षित वर्ग को भुलावे में रखने की 'बुद्धि' भी। दूसरा वर्ग पहले वर्ग के मुकाबले उस मायने

तक बुद्धिमान नहीं है कि अपने को छले जाने की चालबाजी को समझ सके। समझ भी ले तो उससे पार पाने की युक्ति उसके पास नहीं है।

'उलूक-तंत्र' एक ही रचना है जो अलग-अलग हिस्सों में बंटी है। एक तंत्र के विकास के साथ स्वार्थ साधने की जो प्रवृत्तियां पैदा हो जाती हैं, उसकी यात्रा में जितने पड़ाव आ सकते हैं, लगभग उतने ही हिस्सों में इसकी क्रम-सूची भी बंटी हुई है। 'मूर्ख संगठन की योजना का प्रस्ताव', 'महासभापति का महा-चुनाव', 'पुनरुत्थान और संकल्प', 'भोजनायोजना', 'शामे-शनीचर', 'शोक सभा' और 'उपसंहार' मूर्खों के संगठनात्मक ढांचे की रूपरेखा से चुनाव तक की लटकेबाजी में इस्तेमाल होने वाले फूहड़ तरीकों और अपनी बुद्धि को सर्वोपरि मानने वाली मनोवृत्ति की एक पूरी प्रणाली है। व्यंग्यों को प्रथम पुरुष में संबोधित कर तथाकथित अकलमंद वर्ग के चरित्र का खुलासा 'मूर्ख-संगठन का प्रस्ताव' में हो जाता है—'इतिहास के पिछले पृष्ठों को उलटने-पलटने पर आपको स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे शत्रु इन अक्लमंदों ने हम पर कैसे-कैसे जुल्म ढाए हैं?' प्रतीक रूप में यहां एक बड़ी और साफ बात कही गई है। युग को संज्ञा दी गई है संगठनवाद की—'संगठनवाद के इस क्रांतिकाल में बिखरे-छितरे रहना मानो अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है।'

संगठन के बाद योजना चुनाव की है। फिर मंत्रिमंडल का गठन है। उद्योग, अर्थ-व्यवस्था, स्वास्थ्य आदि सभी पक्षों की कार्ययोजना है। कार्यसूची का विवरण 'मूर्खों' की बुद्धि के अनुसार किया गया है। पर यह वास्तविकता से रत्ती-भर भी परे नहीं है। आज का समय यहां अपनी वस्तुस्थिति के साथ मौजूद है। विवेक और अविवेक की विभाजन-रेखा जो जीवन और तंत्र से मिटती नजर आ रही है, यहां उसी को उभारने का प्रयास है। मूर्खता में दिए गए वक्तव्य सच्चाई के सूचना स्रोत बन जाते हैं।

उपसंहार तक आते-आते रचना अपने उद्देश्यों को स्पष्ट कर देती है। चुनाव जीतना और चुनाव हारना दोनों ही जश्न हैं, हिसाब और आंकड़े फायदे के फैलाए जा रहे हैं। फायदा किस दम और किस आधार पर—हुआ यह गौण हो गया। चुनाव से पहले जो समस्याएं दिख रही थीं, चुनाव के बाद वे गायब हो गईं—जीते हुओं के लिए भी और हारे हुओं के लिए भी।

रचना को सटीक बनाने में इसके भाषा पक्ष का भी महत्वपूर्ण योगदान है। ❑

उपन्यास

मीरा का एक अलग रूप

दिनेश पंकज

प्रेम दीवानी : राजेंद्र मोहन भटनागर; एम.एन. पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, डब्ल्यू-122, ग्रेटर कैलाश-I, नई दिल्ली-48; मूल्य : 150 रुपये।

जीवन सत्य क्या है? क्या है वह सत्य जिसको पाने के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता? मनुष्य के सारे दुखों का मूल क्या है? क्या मनुष्य के दुख समाप्त नहीं हो सकते? आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? पाप क्या है? पुण्य क्या है? सौंदर्य क्या है? कुरूपता क्या है?—आदि सवाल आदिकाल से ही दार्शनिकों, ज्ञानियों, महापुरुषों, कवियों, भक्तों और साधारण मानव के मन में भी उठते रहे हैं। सबने अपनी-अपनी तरह से इन प्रश्नों का उत्तर खोजा। वैदिक काल के ऋषि-मुनियों से लेकर उत्तर वैदिक काल के महापुरुषों, यथा—गौतम बुद्ध, भगवान महावीर और भक्तिकाल के कवियों—कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, नानक आदि इन शाश्वत प्रश्नों से जूझते रहे और अपने साहित्य में उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की। आधुनिक काल के मनीषियों, यथा—गांधी, अरविंद, विवेकानंद, टैगोर आदि ने भी अपने साहित्य में इन सवालों का विवेचन किया।

मनुष्य जीवन के इन शाश्वत प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास सुप्रसिद्ध साहित्यकार राजेंद्र मोहन भटनागर अपने साहित्य में करते हैं। भटनागर अब तक दो दर्जन के लगभग उपन्यास, कई कथा-संग्रह, नाटक और शोध ग्रंथों का सृजन कर चुके हैं। उनकी अधिकांश कथाकृतियों के नायक/नायिकाएं वे महापुरुष रहे हैं जो अपने समय में मानवता के व्यापक हित में सत्य की खोज करते रहे। अनेक कष्ट सहकर भी जिन्होंने मानवता की सेवा में अपना जीवन अर्पण कर दिया। मनुष्य का दुख जिन्हें उद्वेलित करता था और उस दुख को दूर करने की उन्होंने कोशिश की।

भटनागर का सद्यःप्रकाशित उपन्यास *प्रेम दीवानी* भक्तिकाल की श्रेष्ठ कवयित्री, भक्त शिरोमणि मीराबाई के जीवन पर आधारित है। पूरा उपन्यास पढ़कर लगा, भटनागर ने उपन्यास में मीराबाई का जो चित्र खींचा है—वह एक श्रेष्ठ कवयित्री का तो है ही, एक समर्पित भक्त और विद्रोही समाज सेविका का भी है। ऐतिहासिक तथ्यों का विवेचन न करके, तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण और मुख्य पात्रों का चारित्रिक, भावनात्मक विवेचन उपन्यास को उच्च कोटि की साहित्यिक कृति सिद्ध करता है। ऐतिहासिक तिथियों को नकारकर भटनागर ने अच्छा ही किया अन्यथा अनावश्यक विवाद खड़ा हो जाता और मीरा के मूल चरित्र पर कोई ध्यान नहीं देता।

तत्कालीन समाज—जब मीरा का आविर्भाव हुआ था—न केवल पददलित था, बल्कि अपने ही अंधविश्वासों के कारण जर्जर हो रहा था। मीरा ने अपने भजनों से, अपने विद्रोही स्वभाव से, अपने समर्पित भक्ति भाव से उस समाज से टक्कर लेने की कोशिश की, उसे बदलने की कोशिश की। परंतु तत्कालीन समाज के ठेकेदारों ने न केवल उसकी राह में रोड़े डाले बल्कि उसके चरित्र हनन का भी प्रयास किया।

उस समय, जबकि नारी को मात्र दासी अथवा वेश्या होकर ही जीवन गुजारना होता था—मीरा ने विद्रोह का रास्ता अपनाया। न वह अपने मृत पति भोजराज के साथ सती हुई और न महलों की चारदीवारों में कैद हुई। बल्कि अपना इकतारा लेकर, कृष्णमयी होकर, अपने पदों को गाती हुई, निकल पड़ी समाज की उन अंधेरी गलियों में, जहां पग-पग पर अंधविश्वास के रोड़े तो थे ही, पुरुष के अहम् का राक्षस भी था, जो एक नारी को समाज की बागडोर अपने हाथों में लेते देख सहन नहीं कर सकता था। मीरा ने जहां तक हो सका इनसे टक्कर ली। विश्वाचार्य, चित्रदास, अखिलेश्वर, गजानंद जैसे तथाकथित ज्ञानी पुरुष भी एक विद्रोहिणी नारी की समर्पित भक्ति से डर गए। उन्होंने न केवल मीरा पर लांछन लगाए बल्कि उसे ब्रज से निकालने की भी कोशिश की, जिसमें वे अंततः सफल हो गए।

मीरा एक पयस्विनी थी, अपनी मधुर वेदना की स्वयं गायिका थी। वह तो स्वयं कृष्ण को समर्पित थी....कृष्ण की भक्ति के अलावा उसने कुछ चाहा भी नहीं। उसकी भक्ति समर्पण की उस सीमा को छूती थी जहां भक्त स्वयं भगवान हो जाता है। यद्यपि मीरा के साथ विशाल जनसमुदाय था फिर भी वह तथाकथित संतों की तरह चमत्कार नहीं दिखाती थी। वह जानती थी चमत्कार दिखाकर भोली-भाली जनता को अंधविश्वासी बनाया जा रहा है। इसलिए वह जनता को चमत्कारों से दूर रहने के लिए कहती थी। राणा परिवार की बहू होने के बावजूद मीरा जात-पात, ऊंच-नीच में विश्वास नहीं करती। उसके लिए तो सभी मनुष्य समान हैं। ललिता जैसी वेश्या को भी मीरा बहन बनाकर भक्ति का मार्ग दिखाती है तो अछूत कन्या के यहां भोजन भी करती है। विद्रोहिणी बनकर वह तत्कालीन रूढ़ियों के खिलाफ आचरण करती है....उनको तोड़ती है। यह अलग बात है कि कबीर की तरह वह लोगों को फटकार नहीं पाई। उसने जो कुछ किया, विनम्रता से किया। फिर भी नारी होने के बावजूद उसने जो कुछ किया—वह कोई क्रांतिकारी ही कर सकती थी। कुल मिलाकर उपन्यास में मीरा का चरित्र—एक समर्पित भक्तिन, सुमधुर गायिका, उत्कृष्ट कवयित्री, समाज सुधारक और समर्पित पत्नी के रूप में उभरा है।

उपन्यास में मीरा से जुड़ी किंवदंतियां एवं चमत्कारों की भी तार्किक परिणति की गई है जो उपन्यासकार के मौलिक दृष्टिकोण की परिचायक है। कई भ्रांतियां भी उपन्यास दूर करता है—जैसे मीरा का पति भोजराज कठोर था, उसकी सास उसे प्रताड़ित करती थी, आदि-आदि। इसके विपरीत भोजराज एक सहृदय पति के रूप में ही नहीं उभरा है बल्कि उसने मीरा को सती न होने का आदेश देकर एक उदार महान मनुष्य होने का भी परिचय दिया है। मीरा की सास कुंवरबाई का चरित्र भी स्नेहमयी सास के रूप में उभरा है।

उपन्यास का एक और महत्वपूर्ण चरित्र है—ललिता का। ललिता पहले वेश्या थी। मीरा के संपर्क में आकर वह भी समर्पित भक्तिन बन गई। मीरा और ललिता के स्नेह का सुंदर चित्रण है। मीरा के लिए समर्पण और त्याग कर वह गौरवमूर्ति अंत में कृष्णमयी होकर संसार त्याग देती है, ताकि मीरा अपने लक्ष्य पर बढ़ सके।

उपन्यास में पात्रानुकूल दार्शनिक संवाद तो हैं ही, भाषा भी संस्कृतनिष्ठ है। तत्सम शब्दों की भरमार है। कहीं-कहीं तो इतने क्लिष्ट शब्द हैं कि पाठक उनका अर्थ ढूंढने में ही रह जाता है और कथा प्रवाह रुक जाता है। भाषा की इस क्लिष्टता से बचा जा सकता था। समास, संधि और अलंकारों के अत्यधिक प्रयोग ने भी उपन्यास को दुरूह बना दिया है। भावपक्ष जितना मजबूत है, कला पक्ष उतना ही कमजोर है। फिर भी उपन्यास पठनीय है और मीरा को समझने का एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है।

एक अच्छा दोस्त

पृष्ठ 32 से आगे

'अंधेरे में' पढ़ने बैठ जाता हूं। मुझे लगता है, यह कविता मेरी उदासी की हिस्सेदारी कर रही है।"

दोस्त ने मुझे किस दुनिया में लाकर खड़ा कर दिया था? यह मेरी दुनिया नहीं थी। यहां न वी.सी.आर. थे न वीडियो कैसेट। यहां मुक्तिबोध की किताबें थीं। टालस्टाय, फाकनेर, ब्रेख्त की किताबें थीं। यहां ऐलियट थे। यहां जी.बी.शा का 'मैन एंड सुपर मैन' था। यहां 'गान विद दि विंड' था। यहां 'स्कारलेट' था।

यह दुनिया मेरी दुनिया से अलग थी। मेरा उससे कोई सरोकार नहीं था। लेकिन मेरे दोस्त का था। वह किताब उठाता, फिर सिलसिलेवार बताता। अचानक उसे लगा कि मैं उसकी बातों पर ध्यान नहीं दे रहा। वह बोलते-बोलते चुप हो गया। मुझे बिठाकर कुछ पल के लिए चला गया। आया तो चाय के कप थे। भुजिया थी। लेकिन बिस्कुट नहीं थे।

चाय पीते-पीते वह बोला—"किताबें मेरी मानसिक भूख को शांत करती हैं।"

"बेशक करती होंगी। लेकिन किताबें फिल्मों जितनी मनोरंजक नहीं होतीं। हम वीडियो कैसेट लगाकर आडियो-वीजुअल दोनों तरह का मनोरंजन हासिल करते हैं। किताबें पढ़ते हुए मगजपच्ची करनी पड़ती है।"

दोस्त गंभीर होकर बोला—"किताबें मनोरंजन के लिए नहीं पढ़ी जातीं। जानकारियों के लिए पढ़ी जाती हैं। हमें उजाले की ओर ले जाती हैं किताबें।"

मैं चलने को हुआ तो दोस्त अपनी लाइब्रेरी से चार किताबें निकालकर ले आया। बोला—"इन्हें पढ़ना। मन करे तो लौटा देना नहीं तो इन्हें अपने पास रखना।"

"किसलिए?"

"इसलिए कि किताबें बहुत अच्छा दोस्त साबित होती हैं।" ❑

इस्लाम और संगीत

पृष्ठ 12 से आगे

अता किया था। बाज बहादुर स्वयं एक गायक था और गाने वालों को उदारता के साथ संरक्षण देता था। उसे 'बाज़ख़ानी' नामक गायन शैली की ईजाद करने का श्रेय जाता है। उसने लय और स्वरों में भी संशोधन किया था। वह नृत्य का अभ्यास भी किया करता था और नर्तकों के झुंड में शामिल होकर नृत्य किया करता था। उनकी संख्या नौ सौ थी।

यात्रा के दौरान अमीरों के साथ कभी-कभी संगीतकार भी रहा करते थे। इब्ने बतूता ने लिखा है कि जब अमीर अला-उल-मुल्क सिंध नदी पार कर रहा था तो उस अवसर पर उसके साथ गवैयों की एक टोली थी जो नाव पर अपने कमाल दिखा रही थी। नावों में ढोल, बांसुरी और बिगुल आदि साज़ थे। टोलियां साथ-साथ गाती थीं। जब वह अमीर खाना खाने के लिए बैठता तो भी बीच-बीच में गाना होता रहता। जब इब्ने बतूता ने दिल्ली से अमरोहा की यात्रा की तो उसके साथ गाने वालों की एक टोली भी थी।

इस युग के साहित्य में गाने की महफिलों का अनेकशः उल्लेख मिलता है। बाजारों में गाकर लोगों का मनोरंजन करने वाले गवैयों का हवाला भी आता है। गायक कलाकारों के आवास का भी उल्लेख मिलता है। दिल्ली के हौजखास के आस-पास गवैयों के मकान बने हुए थे। उनका अपना बाजार था जिसकी गिनती दुनिया के बड़े बाजारों में होती थी। बर्नी ने अवाम से संबंधित गानों के अड्डों को नष्ट करने की सलाह दी थी। इस बात से यह मालूम होता है कि इस जमाने में गवैयों के ऐसे अड्डे भी थे जहां अवाम मनोरंजन के लिए जाया करते थे। इब्ने बतूता के एक कथन से नर्तकियों के शिष्ट और सुसंस्कृत जीवन का पता चलता है। हौजखास के आस-पास रहने वाली नर्तकियां रमजान में जमात के साथ नमाज पढ़ा करती थीं। उनके घर के मर्द और औरतें बड़ी संख्या में शरीक होते थे। अमीर सईदुद्दीन 'ग़दा' की शादी में जो गवैये शरीक हुए थे उनके साथ जानमाजें[1] भी थीं। जब वे अजान सुनते तो उठ खड़े होते, वजू करते और नमाज अदा करते थे।

इस अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत में मुसलमानों के आकर बस जाने के कारण इस देश की संगीत-परंपरा को कोई क्षति नहीं पहुंची, बावजूद इसके कि उनके मजहब में साज या गाना सुनना हराम है। मुसलमानों ने भारत में आकर न केवल भारतीय संगीत को पसंद किया बल्कि काफी हद तक उसमें दक्षता भी प्राप्त की। संगीतकारों का उत्साहवर्धन किया और इस प्रकार संगीत मुसलमानों के सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। सुल्तानों और उनके अमीरों ने अपने उदारतापूर्ण आश्रय से संगीत को न केवल जीवित रखा बल्कि उन्होंने भारतीय संगीत को अपने योगदान से समृद्ध भी किया। ❑

[*प्रकाशन विभाग से शीघ्र प्रकाश्य मुहम्मद उमर की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति का मुसलमानों पर प्रभाव' से*]

1 नमाज पढ़ने की चटाइयां

कविता



रेखांकन : रामबली

रास्ता

राधेश्याम तिवारी

तूने बनाई रात
मैंने दीप जला दिया
तूने बनाया सागर
मैंने जलयान चला दिया
तूने बनाया पहाड़
मैंने उसका सीना फाड़ कर
आकृति दे दी तुम्हारी
तूने बनाई नदी
मैंने उस पर
बना दिया पुल
तूने बनाया कुसुम में कांटा
मैंने चुन लिए फूल
लेकिन हे परमात्मा!
अब मैं उस धर्म का क्या करूं
जिसकी धाह में
झुलस रहे हैं लोग
अगर यह रोग
तूने दिया होता
तो निदान का
कोई न कोई रास्ता
निकल ही जाता।

●



एलेना दरजिल्येवा का चित्र : इरीना वगरामोवा

भारत में 'ब्येलो नोचे'

एक समीक्षक

ठप्पों द्वारा छापे गए चित्रों (ऐचिंग एंड प्रिंट मेकिंग) की रूस में समृद्ध परंपरा रही है। इस तरह की प्रिंट मेकिंग के पार्श्व में झांकें तो उनमें वहां की आरंभिक लोक कला के बुनियादी मिज़ाज को 'वुडकट' (लकड़ी के छापों) के रूप में देखा जा सकता है। ऐसी ही नवीन रूपों की एक चित्र प्रदर्शनी—'व्हाइट नाइट्स' पिछले दिनों नई दिल्ली में लगाई गई थी। 247 रूसी ऐचिंग चित्रों की यह प्रदर्शनी देखना अपने आप में एक दुर्लभ अनुभव से गुजरने जैसा है। दुर्लभ और विस्मयकारी भी। कारण, यह कि इस प्रदर्शनी में जहां हम सन् 1772 के पुराने छापे के प्रिंट को देख सकते हैं वहीं हम व्लादमिर एनिसिमोव के नवीनतम बनारस की झांकी भी देख सकते हैं। 34 चित्रकारों के ऐचिंग (मैटल), लीथोग्राफ वुडकट्स आदि को एक ही समय में एक साथ देखना आंख और दिमाग दोनों की दृष्टि से असाधारण नहीं तो साहसिक अवश्य है।

यह आकस्मिक नहीं है कि रूस ने अपनी लोक कला को छापे-चित्रों के माध्यम से तथा रेखांकनों के रूप में संपन्न किया है। बोल्शेविक क्रांति के दौरान रूस में क्रांतिकारी चित्रकारों की एक ऐसी पीढ़ी उभरकर सामने आई जिसने अपनी कलाकृतियों से चमत्कृत कर दिया। साथ ही उसने यूरोप के आधुनिकतावादी आंदोलन में अवांगार्द की भूमिका निभाई। इस दौरान बड़ी संख्या में रूसी चित्रकारों ने न केवल बेहतरीन छापे-चित्र (ऐचिंग प्रिंट्स) बनाए बल्कि उनका पोस्टरों तथा पुस्तकों के रेखांकनों के रूप में भी उपयोग किया गया। लिलित्स्की, फावारस्कोव तथा मालेविच आदि चित्रकारों का नाम इस रूप में काफी जाना-माना रहा है।

रूसी इतिहास का यह दौर न केवल चित्रकला में बल्कि साहित्य में भी महत्वपूर्ण रहा है। रूसी साहित्य को समृद्ध करने में कई विश्वस्तरीय लेखकों का योगदान रहा है। इस दौर की अधिकांश पुस्तकों में अत्यंत प्रभावशाली व आकर्षक रेखांकन देखने में आते हैं। यह अचानक नहीं है कि प्रदर्शनी का नाम 'ब्येलो नोचे' ('व्हाइट नाइट्स'—'रजत रातें') रखा गया है। महान रूसी उपन्यासकार फ्योदोर दोस्तोवस्की के एक उपन्यास का नाम भी *रजत रातें* ही है।

सभी चित्रकारों के काम का ब्यौरा देना यहां संभव नहीं है। लेकिन फिर भी कुछ चित्रकार जो बरबस अपनी ओर ध्यान खींचते हैं उनमें एक हैं—स्तानिस्लेव निकिरेयेव। निकिरेयेव अपने आप को पेड़ों पर अधिक केंद्रित करते हैं। उनके चित्रों में पेड़ों की विविध मनःस्थितियां हैं, अलग-अलग मौसम में पेड़ों-पत्तियों तथा उससे जुड़ी पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अंकन। ज्यादातर पेड़ों की पृष्ठभूमि में उनींदे और सुनसान घर के आकार हैं। दूर तक प्रकृति में निस्तब्धता, सन्नाटा-सा। पेड़ों पर पक्षी लगभग नहीं के बराबर। चित्र में इतना सब देखने के बाद स्पष्ट पता चल जाता है कि उनके यहां जो पेड़ों का चरित्र है वह किसी बाग-बगीचे का नहीं है। बल्कि बनैला सौंदर्य ही इन चित्रों का प्राण है। लगता है, यह चित्रकार यायावरी मानसिकता का है। 'द साइलेंट ट्री', 'द लास्ट फ्रॉस्ट', 'द मैगपी' तथा 'द रूक' जैसे चित्रों में एक 'टैक्स्चरल क्वालिटी' के बारीक रंग-रेशों की धड़कन सुनाई पड़ती है। 62 वर्षीय स्तानिलोव निकिरेयेव अपने चित्रों के माध्यम से एक कुशल शिल्पी के रूप में भी सामने आते हैं। इसी दृष्टि से विताली गौबारेव के छापे-चित्र भी कम महत्व के नहीं हैं जिनमें पेड़-पौधों का वनस्पति जगत और प्रकृति का सूक्ष्म अंकन दिखाई देता है। इनके चित्रों की विशेषता यह है कि गौबारेव पेड़ों के क्लोज-अप देने में अधिक दिलचस्पी लेते हैं। पेड़, उनके पीछे होते चले गए गिरजे, फिर झोपड़ियां व सूने से रास्ते—सब मिलाकर एक धुंधला-सा परिवेश बनाते हैं। पेड़ अधिकतर पत्तों से रहित हैं, इससे किसी शीतकालीन ऋतु का आभास होता है। इनके चित्रों में जहां प्रकृति के अन्य उपादान मौजूद हैं वहां आकाश लगभग गायब है, विस्मय की बात है। बहरहाल 'द एंड ऑफ विंटर', 'विंटर इन ट्रोयटस्कोय', 'फिशरमैन इन ट्रोयरस्कोय' जैसे चित्रों को देखकर यह बखूबी समझ में आता है कि गौबारेव की संवेदना का मूल धरातल प्रकृति ही है।

'इवनिंग', 'मास्को' और 'पोल्यन्का' अनातोली ल्यूबाविन के तीन ऐसे छोटे मिनियेचर हैं जिन्हें छोटे-से रूपाकार के भीतर प्रकृति के बारीक से बारीक स्पंदन के अहसास को कुशलता से उकेरने की



व्लादिमीर ज़ोरिन का चित्र 'छोटा आंगन'

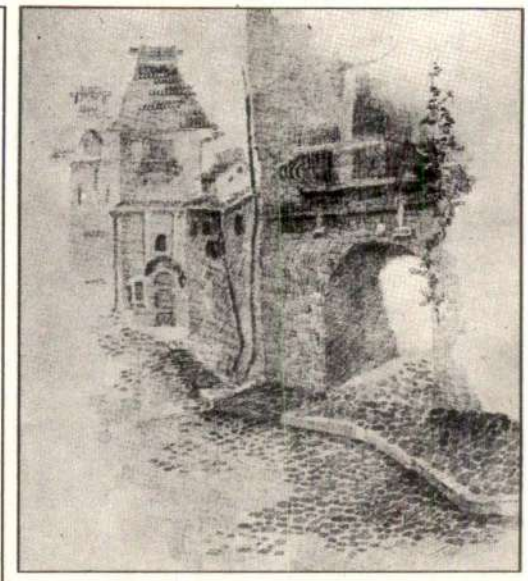
मिसाल के रूप में रखा जा सकता है। ज्यादातर छापे-चित्रों में पेड़-वनस्पति, पहाड़, पानी, आकाश आदि को अर्थात् प्रकृति और परिवेश को अधिक मूर्त किया गया। प्रकृति और परिवेश का चित्रण अच्छा-खासा यथार्थवादी किस्म का है। इस संदर्भ में गौरतलब यह है कि कल्पना की सर्जनात्मकता से चित्रों को ऊर्जा और अनुभव को जो ऊंचाई मिलती है, वह लगभग नहीं के बराबर है। यह जरूर है कि धातु पर जिस डिटेल्स को उकेरा गया है उनके प्रिंट्स अपने आप में तकनीकी दृष्टि से सराहनीय हैं। दूसरी बात यह कि इन छापे-चित्रों में प्रकृति के माध्यम से किसी अतींद्रिय संसार को रचने की कोशिश नहीं की गई है जो शायद एक स्वस्थ लक्षण है। अभी तक जिन चित्रकारों का उल्लेख किया गया है, उनके चित्रों में मानवीय उपस्थिति लगभग एकदम गायब है। व्लादमिर पिमेनोव संभवतः ऐसे अकेले चित्रकार हैं जिनके चित्रों में मानवीय उपस्थिति सबसे अधिक दिखलाई पड़ती है। श्रमिक की भूमिका को सघनता के साथ उकेरने वाला 'द रूफ लेअर' ऐसा ही चित्र है। 'इन मेमोरी ऑफ दोस्तोवस्की' और 'द रूफ लेअर' अपनी प्रकृति में अकेले चित्र हैं जिन्होंने मेरा ध्यान सबसे अधिक खींचा। संवेदना के प्रासंगिक पहलू को जगाने के कारण ये चित्र अपेक्षाकृत अधिक सामयिक जान पड़ते हैं। पिमेनोव के नारी न्यूड्स भी बेहतर हैं। लेकिन इनसे भी बेहतर 'मिरर', 'ब्रेकफास्ट', 'द ब्रेकफास्ट' जैसे कुछ छापे-चित्र हैं जिनमें 'स्टिल लाइफ' के प्रकृति विवरणों को दक्षता से उकेरा गया है। विक्टर कोलीन के ढेर सारे प्रदर्शित चित्रों में से अधिकतर में नास्टेल्जिया का प्रभाव दिखाई पड़ता है। यद्यपि यह अपने आप में बहुत स्वाभाविक है।

प्रदर्शनी के ज्यादातर छापे-चित्रों को स्थूल चाक्षुष संवेदना के स्तर पर बहुत दूर तक नहीं सराहा जा सकता। इसका एक कारण छापे-चित्रों का रंगहीन होना भी है। इस अर्थ में पूरी प्रदर्शनी में एकरूपता-सी है।

इस विविधता में तीन-चार महिला चित्रकारों का भी योगदान है। अलेना देरसिलेवा ऐसी महिला हैं जो अपने कुछ गंभीर 'पोट्रेट्स' के कारण पूरी प्रदर्शनी को एक नया आयाम देती हैं। अलेना के पोट्रेट्स एक मद्धिम लयात्मक प्रवाह लिए हुए हैं। इनमें गति और स्थिति के बीच भाव उस बिंदु पर टिका है जहां से गति और स्थिति की स्पष्ट पहचान का पाना कठिन है—एक भाव दूसरे में लय होता हुआ। गति स्थिति में कहां जाकर लय हो जाती है, लगभग यह परस्पर एक धुंधला-सा रिश्ता है। ओल्गा ओकुनोवा के काम में प्रतीकों का इस्तेमाल तथा तात्तायाना तस्यप्लाकोवा के छापों में मास्को के खूबसूरत दृश्यों का संवेदनात्मक अंकन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। लैंडस्कोप के लिए रुस्तम यायुस्तेव व अलेक्जेंडर श्यूबिन के नाम नहीं छोड़े जा सकते कि इनके चित्रों के दृश्य की अंत को एक रहस्यमय अहसास के साथ समेटने की ललक पड़ती है।

अलग-अलग तरह की मनःस्थितियों और भावनाओं रंगहीन (श्वेत-श्याम) छापे-चित्रों की प्रदर्शनी पिरोने वाला शीर्षक (जिसे चंदना बा नाइट्स'। प्रदर्शनी के नाम में काव्यात्मक आकर्षण। लगभग पैराडॉक्स! चंदना बावा जो रूस में बताती हैं कि रूस में दिन दौरान एक ऐसा समय आता और रातों को भी छिपाना नहीं तरह जगमगाती रहती हैं। ऋतु उत्सवधर्मिता से कम नहीं होती। इस कहते हैं। 'हैबिआर्ट' द्वारा नई दिल्ली में इस विविध चित्रमय 'ब्येलो नोचे' को लाने का श्रेय अमेरिकन बैंक आई.टी.सी.-वेलकम ग्रु है।





ब्योले नोचे

व्लादिमीर अनिसिमोवा का चित्र 'वाराणसी' (दाएं)
स्टानिस्लाव निकिरेजेव : 'बूढ़ा विलो वृक्ष'
व्लादिमीर पिमेनोव : संदेशवाहक (नीचे)



डाक तार पंजीयन सं. डी. (डी. एल.) 12035/94 बिना पूर्व भुगतान के डी.पी.एस.ओ., दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाइसेंस
यू (डी.एन.)-49 प्राप्त दिल्ली डाक आर.एन. 701/57
Postal Regn. No. D (DL)/12035/94 Delhi Postal
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi R.N. 701/57

पिंजरा लिए नवयुवक : तुर्की और (दाएं) 19वीं सदी का चीनी पुतुल। लेख देखें पृष्ठ 33 पर।





निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110(काशित
तथा तारा आर्ट प्रेस, नई दिल्ली-110002 में मु,